Somebody asked me, —

"In the work of Transformation, who is the slowest to do his part, man or God?"

I replied, —

Man finds that God is too slow to answer his prayers.

God finds that man is too slow to receive His influence.

But for the Truth-Consciousness all is going on as it ought to go.

किसीने मुझसे पूछा, —

"रूपांतरके कार्यमें कौन अपना कार्य करनेमें सबसे अधिक धीमा है, मनुष्य या भगवान्?"

मैंने जवाब दिया —

मनुष्यको लगता है कि उसकी प्रार्थनाओंका उत्तर देनेमें भगवान् बहुत धीमे हैं।

भगवान्‌को लगता है कि उनके प्रभावको ग्रहण करनेमें मनुष्य बहुत धीमा है।

लेकिन सत्य-चेतनाके लिये सब कुछ उसी तरह चल रहा है जैसे चलना चाहिये।

ग्रहणशीलता

ग्रहणशीलता भागवत कार्य को स्वीकार करने और अपने अन्दर धारण करने की क्षमता है।

*

ग्रहणशीलता : भागवत संकल्प के प्रति सचेतन और उसे समर्पित होती है।

*

सर्वांगीण ग्रहणशीलता: सारी सत्ता 'भागवत संकल्प' के प्रति सचेतन होती है और उसकी आज्ञा का पालन करती है।

*

चैत्य ग्रहणशीलता : ऊपर उठती हुई शक्ति को चैत्य आनन्द के साथ उत्तर देता है।

*

मानसिक ग्रहणशीलता : सीखने के लिये हमेशा तैयार।

*

संवेगात्मक ग्रहणशीलता : संवेदनाओं की भागवत बनने की चाह।

*

प्राणिक ग्रहणशीलता केवल तभी आती है जब प्राण यह समक्ष जाता है कि उसे रूपांतरित होना चाहिये।
प्राण भगवान् के लिये अभीप्सा में खिलता है।

*

भौतिक ग्रहणशीलता: जो भगवान् के सिवा और किसी के प्रति न होनी चाहिये।

*

अतिमानसभावापन्न ग्रहणशीलता : आगामी कलकी ग्रहणशीलता।

*

चेतना के विस्तार और अभीप्सा की अनन्यता से ग्रहणशीलता बढ़ती है।

(२२ दिसंबर, १९३४)

*

विद्रोह ग्रहणशीलता के द्वार बन्द कर देता है।

*

नये सिरेसे भरे जाने के लिये बरतन को कभी तो खाली होना चाहिये।
जब हम अधिक महान् ग्रहणशीलता की तैयारी में होते हैं तब अपने-आपको खाली अनुभव करते हैं।

*

चेतना?
ग्रहणशील बनो – वह मौजूद है।
प्रेम और आशीर्वाद।

*

तुम जितना पाते हो उससे संतुष्ट रहने की कोशिश करो – क्योंकि यह ग्रहणशीलता का मामला है – मेरी मानो – लोग जितना ग्रहण कर सकते हैं मैं उससे कहीं अधिक देती हूं – और दो-तीन मिनटों में वे इतना पा सकते हैं कि वह महीने भर तक चले। लेकिन मन अपनी अज्ञानपूर्ण मांगों के द्वारा दखल देता है और सारी चीज बिगड़ जाती है।

(२९ जनवरी, १९६४)

मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है; तो अगर तुम उसे अनुभव न करो तो इसका अर्थ है कि तुम उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो। यह तुम्हारी ग्रहणशीलता की कमी है और ग्रहणशीलता को बढ़ना चाहिये; इसके लिये तुम्हें अपने-आपको खोलना चाहिये और तुम अपने-आपको तभी खोलते हो जब अपने-आपको देते हो। निश्चय ही तुम 'भागवत प्रेम' और शक्तियों को न्यूनाधिक सचेतन रूप से अपनी ओर खींचने का प्रयास कर रहे हो। यह प्रक्रिया बुरी है। बिना लेखा-जोखा किये, बदले में किसी चीज की आशा किये बिना अपने-आपको दे दो तब तुम पाने में समर्थ होंगे।

*

हम कैसे जान सकते हैं कि हम ग्रहणशील हैं?

जब तुम्हें देने की ललक का अनुभव हो और 'भागवत' कार्य के लिये देने का आनन्द आये तो तुम विश्वास कर सकते हो कि तुम ग्रहणशील हो गये हो।

(१२ जुलाई, १९६४)

*

ग्रहणशील होना

ग्रहणशील होने का अर्थ है देने की चाह, भागवान् के कार्य के लिये, तुम्हारे पास जो कुछ है, तुम जो कुछ हो, तुम जो कुछ करते हो, वह सब दे देने का आनन्द।

खुलापन

खुलापन शक्ति और प्रभाव को ग्रहण करने और प्रगति के लिये उसका उपयोग करने के लिये संकल्प है; परम चेतना के साथ संपर्क बनाये रखने की सतत अभीप्सा है; यह श्रद्धा है कि शक्ति और चेतना हमेशा तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अंदर हैं और बस तुम्हें इतना ही करना है कि उन्हें ग्रहण करने के रास्ते में किसी भी चीज को बाधक न बनने दो।

माताजी के वचन
भाग-2, पृ.सं. १४८

योग समन्वय से उद्धृत

योग मात्र स्वरूपत: एक नूतन जन्म है। इसका अर्थ मनुष्य के साधारण मनोमय एवं स्थूल जीवन से निकलकर एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और महत्तर तथा दिव्यतर सत्ता में जन्म लेना है। अधिकतर मनुष्यों के साधारण, स्थूल एवं पाशविक जीवन से या कुछ लोगों की एक अधिक मानसिक, पर तो भी संकुचित जीवन-शैली से मुंह मोड़कर एक अधिक महान आध्यात्मिक जीवन और दिव्य जीवन-प्रणाली की ओर उन्मुख होना ही योग का सार है।

इसके लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हम मन की उस केंद्रीय श्रद्धा और दृष्टि को तिलांजलि दे दें जिनके अनुसार यह एक चिर अभयस्त बहिर्मुखी संसार-व्यवस्था और घटना क्रम में ही अपना विकास, सुख-संतोष और रस लाभ करने में अपनी सारी शक्ति लगाये रखता है। प्राण को एक ऐसी विशाल, शान्त, तीव्र और शक्तिशाली वस्तु में बदल जाना होगा जो अपनी पुरानी अन्ध, आतुर एवं संकीर्ण सत्ता को या क्षुद्र आवेग एवं कामना को पहचान तक न सके। इस कार्य की कठिनाई के कारण स्वभावत: ही सरल और मर्मस्पर्शी उपायों का अनुसरण किया गया है। इस कठिनाई के कारण ही धर्मों और योग सम्प्रदायों में जगत के जीवन को आन्तरिक जीवन से पृथक कर देने की प्रवृत्ति पैदा हुई है।

जीवन भगवान की अभिव्यक्ति का एक क्षेत्र है जो अभी पूर्ण नहीं हुयी है। यहीं, इसी जीवन में, इसी भूतल पर, इसी शरीर में, -इहैव, जैसा कि उपनिषदें बार-बार कहती हैं,- हमें देवाधिदेव को प्रकट करना है। उसकी परात्पर महिमा, ज्योति और मधुरिमा को हमें यहीं अपनी चेतना के लिए जीवित-जागृत बनाना है, यहीं उसे अधिगत और यथासम्भव व्यक्त करना है। अत: अपने योग में हमें जीवन को, उसका पूर्ण रूपान्तर करने के लिए, अवश्य स्वीकार करना होगा। यह स्वकृति हमारे संघर्ष में चाहे जो भी कठिनाइयाँ बढ़ा दे, उनसे हमें घबराना नहीं होगा। यद्यपि हमारा रास्ता अधिक ऊबड़-खाबड़ है, प्रयत्न अधिक जटिल, विकट और चकरा देने यहाँ तक कि हताश कर देने वाला है, तथापि इसके पुरस्कार-स्वरूप एक विशेष अवस्था के बाद हमें एक महान लाभ प्राप्त हो जाता है। जब एक बार हमारा मन केंद्रीय दृष्टि में काफी हद तक स्थिर होता है और हमारी इच्छा शक्ति समूचे रूप में उस एक ही उद्देश्य की ओर अभिमुख हो जाती है, तब जीवन स्वयं हमारा सहायक बन जाता है। एक निष्ठ, जागरूक एवं पूर्णत: सचेतन रहकर हम जीवन के रूपों की हर एक छोटी-मोटी बारीकी को और उसकी चेष्टाओं के सभी प्रसंगों को अपने अन्दर की यज्ञीय अग्नि के लिए हवि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। संघर्ष में विजयी होकर, हम इस जड़ सत्ता तक को विवश कर सकते हैं कि यह पूर्णता की प्राप्ति में हमारी सहायक हो। जो शक्तियाँ हमारा विरोध करती हैं उन्हीं का राज्य छीनकर हम अपनी उपलब्धि को समृद्ध कर सकते हैं।

योग समन्वय पृ.सं. ७०

जब श्रीअरविंद ने अपने शरीर त्यागा तो उन्होंने कहा था कि वे हमें छोड़ न देंगे। और, सचमुच इन इक्कीस वर्षों के दौरान, वे हमेशा हमारे साथ रहे हैं और जो उनके प्रभाव के प्रति ग्रहणशील और खुले हुए हैं उन्हें रास्ता दिखाते और उनकी सहायता करते रहे हैं।

माताजी के वचन भाग १ पृ.सं. १५

शरीर की ग्रहणशीलता सीमित क्यों है?

क्योंकि, चीजें घुल-मिल न जायें इसके लिये जरूरी था कि भौतिक जगत् कुछ स्थिर और दृढ़ हो। उदाहरण के लिये, अगर तुम्हारा शरीर इतना सूक्ष्म और लोचदार होता कि किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति में अचानक यूं ही पिघलने लग जाता तो यह काफी परेशान करने वाली बात होती! या पास आते ही तुम दोनों घुल-मिल जाते तो बात कुछ अप्रिय-सी होती। तो इसलिए यहां ज्यादा घनता रखी गयी, एक व्यक्तित्व को दूसरे से अलग रखने के लिये (वास्तव में अलग करने के उद्देश्य से ही), शक्ति में एक प्रकार की घनता रखी गयी। और यही स्थिरता शरीर को उतनी तेजी से प्रगति करने से रोकती है जितनी तेजी से वह प्रगति कर सकता है और उसे करनी चाहिये। और जैसे ही मनुष्य अपनी सामान्य ऊंचाई और शरीर गठन तक पहुंचता है वह ज्यादा कठोर हो जाता है। बच्चों में वृद्धि का लोच होता है, वे सारे समय बदलतेरहते हैं, बदलते दिखायी देते हैं, इसलिये जब तक वे बच्चे होते हैं, बढ़ते और विकसित होते रहते हैं, उनके अंदर कुछ नमनीयता रहती है। लेकिन चालीस के ऊपर होते ही साधारण जीवन में आदमी बैठकर सोचने लगता है कि वह अपने लक्ष्य तक पहुंच गया है और अब अपने परिश्रम का फल इकट्ठा करने का समय है। इसके साथ ही वह सूखकर लकड़ी जैसा कठोर हो जाता है, बल्कि अंत में पथरा जाता है। और चूंकि शरीर अपने-आपको आंतरिक रूपांतर की क्रिया के अनुकूल नहीं बना सकता, इसलिये वह घसिटता है, बूढ़ा होने लगता है, कदम नहीं मिला सकता और सूख जाता है।

श्रीमातृ वाणी, प्रश्न और उत्तर
१९५३ पृ.सं. २४८

आपने कहा है कि भौतिक स्तरपर "ग्रहणशीलता एक बड़ी मात्रा में प्रतिरोध के साथ मिली रहती है"। यह प्रतिरोध क्या है?

तुम्हारे शरीर में प्रतिरोध नहीं है? नहीं है क्या? जब तुम कोई व्यायाम करना चाहो तो क्या तुम शरीर के साथ जो भी करना चाहो कर सकते हो? और जब तुम स्वस्थ रहना चाहो तो क्या तुम्हारा शरीर हमेशा आज्ञा-पालन करता है? और जब तुम अपना पाठ सीखना चाहो तो क्या तुम्हारा मस्तिष्क हमेशा उसे समझ सकता है? यही तो प्रतिरोध है। जो कुछ प्रगति करने से इंकार करता है वह सब प्रतिरोध है। और मेरा ख्याल है कि प्रतिरोध की मात्रा ग्रहणशीलता की मात्रा से बहुत अधिक है। ग्रहणशील होने के लिये बहुत ज्यादा परिश्रम करने की जरूरत होती है।

तुम नहीं जानते – यह ऐसी चीज है जिसे शायद तुम एक दिन जान पाओगे, शायद तुम्हें एक दिन बताया जाय, तुम्हें यह समझाया जा सके – तुम कल्पना नहीं कर सकते कि शक्ति का कितना बड़ा सैलाब तुम्हारे अधिकार में है। और साधारणत: तुम उसे अनुभव भी नहीं करते। जब तुम्हें अनुभव होता है तो तुम्हारे अंदर कोई चीज सिकुड़ती है क्योंकि वह बहुत ज्यादा है, यही चीज तुम्हारे कोषाणुओं में एक प्रकार का सहज भय भर देती है। और जब तुम्हें वह प्राप्त होती है तो तुम तीन-चौथाई-से अधिक छलका देते हो जैसे चीज ज्यादा भरे हुए बरतन में से निकल जाती है। वह छलक जाती है, गिर जाती है, क्योंकि तुम उसे रख सकने में असमर्थ हो। मुझे ऐसे बहुत से लोग

मिले हैं जिन्होंने यह शिकायत की है कि उन्हें कुछ भी नहीं मिल रहा, अर्थात् उनमें वह शक्ति नहीं है जिसकी उन्हें जरूरत थी। इसका कारण यह है कि वे उसे ग्रहण करने में बिलकुल असमर्थ थे। वे जितनी ले सकते थे उससे लाखों गुना अधिक शक्ति मौजूद थी। बात ऐसी है। तुम सब विशाल विस्मयकारी स्पंदनों के सागर में हो। तुम उसके बारे में बिलकुल नहीं जानते, क्योंकि तुम ग्रहणशील नहीं हो। और तुम्हारे अंदर ऐसा प्रतिरोध है कि अगर कोई चीज अंदर घुसने में सफल हो जाय तो उसका तीन-चौथाई भाग उग्रता से बाहर फेंक दिया जाता है, क्योंकि तुम उसे समा नहीं सकते...। मैं साधारणत: इस विषय की बात नहीं करती, लेकिन अब चूंकि हम इस विषय में बात कर रहे हैं इसलिये तुम्हें बता रही हूँ। और शायद एक दिन मैं तुम्हें इसका उदाहरण दूंगी। यह ऐसी बात है जिसपर विश्वास नहीं होता। उदाहरण के लिये, शक्तियों की चेतना को लो। प्रेम की शक्ति की तरह समझने की शक्ति, सृजन-शक्ति (हर चीज के लिये वही बात है, संरक्षण की शक्ति, वृद्धि की शक्ति आदि, और प्रगति की शक्ति, हर चीज के लिये), चेतना को लो, केवल यह चेतना जो हर चीज को घेरे हुए है, हर चीज में प्रवेश करती है, जो हर जगह है, हर चीज में है...। यह ऐसे लगती है मानों एक उग्रता हो जो अपने-आपको ऐसी सत्ता पर आरोपित करना चाहती है जो उसे ग्रहण करने या सहन करने में असमर्थ है। और मैं अच्छे-से-अच्छे की बात कर रही हूं, लेकिन हर एक में बड़ा या छोटा, कम या अधिक महत्त्वपूर्ण भाग होता है जिसमें अभी तक सद्भावना नहीं है, जो अभी दुर्भावना की सीमा पर है और किसी भी मूल्यपर उस चीज को नहीं फेंकना चाहता जो वहां है। लेकिन अगर तुम सचेतन हो और केवल श्वास लो, कुछ अधिक नहीं, बस इतना ही, तो तुम चेतना, प्रकाश, समझ, शक्ति, प्रेम और बाकी चीजों को सांस के साथ अंदर लोगे। और यह सब धरती पर व्यर्थ हो रहा है, क्योंकि धरती उसे लेने के लिये तैयार नहीं है। तो बस।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
१९५३ पृ.सं. २५७

संदेश २६५

पूजा दिवस के बारे में माताजी की टिप्पणियां

(१९५३ दुर्गाष्टमी और विजया-दशमी के बारे में)

आज सचमुच विजय का दिन था, उस सब पर विजय जो भौतिक चेतना में अभी तक मानव बनी रही थी।

हे प्रकृति, मैं तुम्हारे लिये बल और प्रकाश, सत्य और शक्ति लायी हूं; इन्हें ग्रहण करना और इनका उपयोग करना तुम्हारा काम है। तुम ही अपनी सृष्टि के फल मनुष्य में ग्रहणशील बनोगी और उसकी समझ के द्वार खोलोगी; तुम ही उसे प्रगति करने की ऊर्जा और रूपांतर का संकल्प दोगी; और सबसे बढ़कर, तुम ही उसके द्वारा भागवत उपस्थिति को स्वीकार कराओगी और उससे परम उपलब्धि के लिये अभीप्सा करवाओगी।

(१८ अक्टूबर, १९५३)

श्रीमातृवाणी भाग-३ पृ.सं. २६५

जब हम 'वितरण' के समय आपके पास आते हैं तो कभी-कभी

हम अपने को मुक्त और प्रसन्न अनुभव करते हैं, परंतु कभी-कभी हम कुछ नहीं अनुभव करते, हम खाली-खाली अनुभव करते हैं। इससे क्या सूचित होता है?

'सन् १९५८ तक श्रीमाताजी प्रतिदिन शाम को खेल के मैदान में (''क्लास'' के दिनों के सिवा) मूंगफलियां या मिठाइयां बांटा करती थीं जो एक प्रकार का प्रतीक था। उससे सभी शिष्यों को, यदि वे चाहते, एक के बाद एक, उनके पास जाने का मौका मिलता था ताकि वे प्रत्यक्षत: उनकी आध्यात्मिक सहायता प्राप्त कर सकें।

जब मनुष्य प्रसन्न होता है तो उसका मतलब होता है वह खुला हुआ है और 'शक्ति' को ग्रहण करता है; जब वह कुछ नहीं अनुभव करता तो इसका अर्थ है कि वह बंद है।

परंतु कौन-सी चीज तुम्हें खोलती या बंद करती है? प्रत्येक व्यक्ति के लिये वह अलग-अलग होती है। यह बहुत-सी बातों पर निर्भर है। तुमने अपने भीतर इस अंतर पर ध्यान नहीं दिया है कि यह किसी बाहरी परिस्थिति पर निर्भर करता है अथवा तुम्हारे भीतर की किसी वस्तु पर – यह ध्यान नहीं दिया है?

हां, दिया है।

हां। आह! बहुत अच्छा।

कई अलग-अलग कारण हैं जिससे मनुष्य कभी-कभी तो अधिक सजीव शक्ति और हर्ष से अधिक भरपूर अनुभव करता है...। साधारणतया, साधारण जीवन में, ऐसे लोग होते हैं जो, स्वयं अपनी गठन के, जिस तरीके से वे बने हुए हैं उसके कारण ही, प्रकृति के साथ एक प्रकार का सामंजस्य बनाये रखते हैं, मानों वे उसी ताल-छंद के साथ श्वास लेते हों, और ये लोग सामान्यतया सर्वदा हर्ष युक्त, आनंदपूर्ण रहते हैं; वे जो कुछ करते हैं सबमें सफल होते हैं, वे बहुत सारे दु:ख-कष्टों तथा विपत्तियों से बच जाते हैं, निस्संदेह जीवन और प्रकृति के ताल-स्वर के साथ उन्हें समस्वरता प्राप्त है। और फिर, ऐसे दिन होते हैं जब मनुष्य भागवत चेतना के जो कार्यरत होती है, भागवत कृपा शक्ति के संपर्क में होता है, और तब प्रत्येक वस्तु पर इस दिव्य उपस्थिति की आभा, रंग चढ़ा होता है, और जो वस्तुएं मामूली तौर पर तुम्हें नीरस और अरुचिकर प्रतीत होती हैं वे सुहावनी, सुखप्रद, आकर्षक और ज्ञानदायिनी बन जाती हैं– प्रत्येक वस्तु जीवंत होती और स्पंदित होती है, और आशा तथा शक्ति से भरपूर होती है। सो, जब मनुष्य उसकी ओर खुला होता है, वह अपने को अधिक शक्तिशाली, अधिक मुक्त, अधिक सुखी तथा स्फूर्ति से पूर्ण अनुभव करता है, और प्रत्येक वस्तु एक अर्थ रखती है। तब मनुष्य समझने लगता है कि वस्तुएं जैसी हैं वैसी ही क्यों हैं और वह विश्वव्यापी गति-विधि में भाग लेने लगता है।

कुछ दूसरे मुहूर्त्त ऐसे होते हैं जब, किसी-न-किसी कारण से, मनुष्य तमसाच्छन्न अथवा अवरूद्ध अथवा एक छिद्र के अंदर निक्षिप्त होता है और इसलिये कुछ अनुभव नहीं करता एवं सभी

वस्तुएं अपना रस, अपना मूल्य खो देती हैं; मनुष्य काठ के एक चलते-फिरते टुकड़े की भांति मारा-मारा फिरता है।

अब, यदि कोई अपने चैत्य पुरुष के साथ सचेतन रूप में युक्त होने में सफल हो तो वह सर्वदा ग्रहणशीलता, आंतरिक हर्ष, स्फूर्ति, प्रगति तथा दिव्य उपस्थिति के साथ प्राप्त एकत्व की इस स्थिति में रह सकता है। और जब कोई उसके संपर्क में होता है, तो वह उसे सर्वत्र, सभी वस्तुओं में देखता है, तथा सभी वस्तुएं अपना यथार्थ अर्थ ग्रहण कर लेती हैं।

यह जिस चीजपर निर्भर है?... एक आंतरिक ताल-छंदपर। संभवत: एक प्रकार की कृपा पर। हर हालत में किसी ऐसी चीज की ग्रहणशीलता पर जो तुमसे परे है।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
२६ सितम्बर १९५६

हम शरीर की ग्रहणशीलता को कैसे बढ़ा सकते हैं?

यह शरीर के अंग पर निर्भर करता है। सत्ता के सभी भागों के लिये पद्धति प्राय: एक ही है। प्रथमत:, सबसे पहली शर्त है : जितना संभव हो उतना शांत-स्थिर बने रहना। तुम लक्ष्य कर सकते हो कि तुम्हारी सत्ता के विभिन्न भागों में जब कोई चीज आती है और तुम उसे ग्रहण नहीं करते तो इससे एक प्रकार की सिकुड़न उत्पन्न होती है - प्राण, मन या शरीर में कोई चीज ऐसी होती है जो सख्त हो जाती है। वहां एक प्रकार की कठोरता आ जाती है और वह कठोरता चोट पहुंचाती है, हम कोई मानसिक, प्राणिक या शारीरिक दर्द अनुभव करते हैं। सो, पहली चीज है अपने संकल्प का प्रयोग करना और इस सिकुड़न को ढीला कर देना, जैसे कि हम किसी ऐंठ गयी स्नायु या तने हुए पुट्ठे को शिथिल करते हैं। तुम्हें अपने-आपको शिथिल करना सीखना होगा, और इस तनाव को, चाहे वह सत्ता के किसी भी भाग में क्यों न हो, दूर करने में तुम्हें समर्थ होना चाहिये। एक सिकुड़न को ढीला करने की पद्धति मन, प्राण या शरीर में अलग-अलग हो सकती है, पर न्यायत: यह है एक ही चीज। एक बार जब तुम तनाव को शिथिल कर लो तो तुम सबसे पहले यह देखो कि अरुचिकर प्रभाव बन्द हो गया है या नहीं, इससे सिद्ध होगा कि वह कोई तुच्छ क्षणस्थायी प्रतिरोध था, परंतु दर्द यदि जारी रहे और यदि सहायक चीजों को, ग्रहणीय वस्तुओं को ग्रहण करने योग्य बनने के लिये ग्रहणशीलता बढ़ाने की आवश्यकता वास्तव में हो तो तुम, इस सिकुड़न को ढीली करने के बाद, अपने-आपको विस्तारित करने की कोशिश करना आरंभ कर दो-तब तुम अनुभव करते हो कि तुम विस्तारित हो रहे हो। इसकी कई पद्धतियां हैं। कुछ लोगों को यह कल्पना करना बहुत लाभदायी प्रतीत होताहै कि वे अपनी पीठ के नीचे एक तख्ता रखकर पानी पर तैर रहे हैं। फिर वे अपने को फैलाते हैं, जब तक कि वे विशाल जलराशि नहीं बन जाते। दूसरे लोग आकाश और सितारों के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, अतएव वे अपने-आपको विस्तारित करते, विस्तारित करते जाते हैं और आकाश के साथ अधिकाधिक एकात्म होते जाते हैं। फिर दूसरे कुछ लोगों को इन मानसिक चित्रों की कोई आवश्यकता नहीं

होती; वे अपनी चेतना के विषय में सचेतन हो सकते हैं, अपनी चेतना को अधिकाधिक विस्तारित कर सकते हैं जब तक कि वह असीम नहीं हो जाती। हम उसे तब तक फैला सकते हैं जब तक कि वह पृथ्वी की तरह, यहां तक कि विश्व की तरह विशाल नहीं बन जाती। जब मनुष्य ऐसा करता है वह वास्तव में ग्रहणशील बन जाता है। जैसा कि मैंने कहा है, यह बस प्रशिक्षण का प्रश्न है। पर जो हो, तात्कालिक दृष्टिकोण से, जब कोई चीज आती है ओर मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अत्यंत जोरदार है, उससे सिर-दर्द होता है, उसे सहा नहीं जा सकता तो पद्धति ठीक नहीं है, तुम्हें सिकुड़ने के ऊपर कार्य करना चाहिये। हम विचार के द्वारा कार्य कर सकते हैं, इस प्रकार शांति, स्थिरता को (शांति का अनुभव कठिनाई का बहुत सा भाग हटा देता है) पुकारकर कार्य कर सकते हैं: "शांति, शांति, शांति ..... स्थिरता ..... अचंचलता।" इस तरह बहुत से दु:ख-कष्ट, यहां तक कि स्नायुगुच्छ की इन सब सिकुड़नों की जैसी शारीरिक व्याधियां भी दूर हो सकती हैं जो इतनी अधिक दु:खदायी होती हैं और कभी-कभी जिनके कारण जी मचलाता है, दम घुटने का बोध होता है और सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होती है। वास्तव में यह स्नायु केंद्र है जो प्रभावित होता है, वह बहुत आसानी से प्रभावित हो जाता है। जैसे ही कोई ऐसी चीज आये जो स्नायु-केंद्र को प्रभावित करती है, वैसे ही तुम्हें कहना चाहिये, "शांति ..... शांति ..... शांति," अधिकाधिक शांत स्थिर होना चाहिये जब तक कि तनाव दूर न हो जाय।

विचार के विषय में भी यही बात है। उदाहरणार्थ, तुम कोई चीज पढ़ रहे हो और तुम्हारे सामने एक ऐसा विचार आता है जिसे तुम नहीं समझते – वह तुम्हारी पहुंच से परे है, तुम कुछ भी नहीं समझते और इसलिये तुम्हारे मस्तिष्क में वह पत्थर की तरह जम जाता है, और यदि तुम उसे समझने की कोशिश करते हो तो वह अधिकाधिक पत्थर की तरह जमता जाता है। एक कठोरता आ जाती है, और यदि तुम समझने का प्रयत्न जारी रखो तो वह सिर-दर्द पैदा कर देता है। बस, केवल एक ही चीज करने की है : शब्दों के साथ संघर्ष न करो, ठीक इस प्रकार बने रहो (संकेत : विस्तारित होना, अचल-अटल बने रहना), शिथिलता उत्पन्न करो, बस, फैलते जाओ, अधिकाधिक फैलते जाओ। और समझने का प्रयास मत करो, सर्वोपरि, समझने का प्रयास मत करो – उसे इस भांति, एकदम धीरे-धीरे, प्रवेश करने दो, और अपने को शिथिल कर दो, शिथिल कर दो, और इस प्रकार शिथिल होने पर तुम्हारा सिर-दर्द चला जाएगा। अब तुम किसी चीज का चिंतन नहीं करते, कुछ दिनों प्रतीक्षा करते हो और कुछ दिनों बाद अंदर से देखते हो : "ओह! कितना स्पष्ट है यह! जो मैंने नहीं समझा था उसे मैं समझ रहा हूँ।" यह बात प्राय: इतनी ही आसान है। जब तुम कोई किताब पढ़ते हो जो तुम्हारी समझ के परे है, जब तुम ऐसे वाक्य पाते हो जिन्हें तुम नहीं समझ सकते – मनुष्य ऐसा अनुभव करता है कि मस्तक में उसके साथ कोई संगति नहीं है – हां, तब तुम्हें ऐसा ही करना चाहिये; तुम उस चीज को एक बार, दो बार, तीन बार पढ़ते हो और फिर शांत-स्थिर बने रहते हो तथा मन को निश्चल-नीरव बना देते हो। कोई पंद्रह दिन बाद, तुम फिर से उसी परिच्छेद को लेते हो और वह दिवालोक की तरह स्पष्ट हो जाता है। मस्तक में प्रत्येक चीज व्यवस्थित कर दी गयी है, मस्तिष्क के जो तत्त्व समझने के लिये अभीष्ट थे वे निर्मित हो गये हैं, धीरे-धीरे सारी बात सम्पन्न हो गयी है और तुम समझने लगे हो। मैं बहुत-से लोगों को जानती हूं जो मेरे कुछ कहने पर तर्क किया करते थे – वे एकदम कुछ नहीं समझते थे। वे अपने मन में बंद थे जो विचार को पकड़ नहीं पाता था, जो उसे बाहर फेंक देता था, उग्र भाव से अस्वीकार कर देता

था। तुमने कुछ बात कही है, तुम हठ नहीं करते हो, परंतु तुम उस पर कोई आग्रह नहीं करते। एक सप्ताह, एक माह बाद, ठीक वे ही लोग तुमको खोजते हुए आते हैं और प्रबल विश्वास के साथ तुमसे कहते हैं, ''परंतु बातें ऐसी हैं, तुम नहीं समझते, बातें ऐसी हैं!'' उनकी बात ठीक-ठीक वही होती है जो तुमने उनसे कही थी। परंतु वे तुमसे कहते हैं, ''मैंने इस विषय में विचार किया है, अब मैं जान गया हूं कि यह बात ऐसी है, यह वास्तव में यही है।'' यदि तुम दुर्भाग्यवश उनसे यह कह दो कि ''परंतु ठीक यही बात तो मैंने तुमसे कही थी,'' तो उनका मुंह उतर जाता है और फिर वे कुछ नहीं समझ पाते!

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
१९५०-१९५१ पृ. सं. २७२

किसी व्यक्ति ने एक प्रश्न पूछा है : ''साधना की वर्तमान अवस्था में आपके साथ व्यक्तिगत संपर्क की क्या उपयोगिता है? आपके साथ का व्यक्तिगत संपर्क किस हदतक हमें सहायता देता है?''

व्यक्तिगत संपर्क का क्या तात्पर्य है? मुझसे मिलना, मुझसे बातचीत करना, क्या? व्यक्तिगत रूप से, समष्टिगत रूप से, कैसे?

व्यक्तिगत रूप से।

ओह! (हंसते हुए) मुलाकातें करके!

तुम उत्तर दे सकते हो कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि मनुष्य उनका क्या उपयोग करता है।

इसका उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि यह विशुद्ध रूप में व्यक्तिगत प्रश्न है। यह उस मुहूर्त्त पर निर्भर करता है, उस स्थिति पर निर्भर करता है जिसमें मनुष्य होता है, और सबसे बढ़कर, मैं कहती हूं, इस बात पर निर्भर करता है कि मनुष्य यह जानता है या नहीं कि इस संपर्क का उचित रूप में किस प्रकार उपयोग किया जाता है।

क्या तुम नहीं देखते कि यदि कोई अपने अंदर खुला है, यदि ग्रहणशील है तो जो कुछ अपनी सर्वांगीण प्रगति के लिये आवश्यक होता है वह सब सूक्ष्म-भौतिक तक में ग्रहण कर लेता है। और वस्तुओं के क्रम में, बाह्य संपर्क को केवल एक परिपूरक और सहायक के रूप में आना चाहिये ताकि शरीर – जड़-भौतिक चेतना और शरीर – आंतर सत्ता की गति-विधिका अनुसरण करने में सक्षम हो सकें।

परंतु तुम यदि यह समझो कि यह संपर्क आंतरिक ग्रहणशीलता का स्थान लेने जा रहा है तो यह तुम्हारी भूल है, तब इसका कोई बहुत उपयोग नहीं है। उदाहरणार्थ, जो लोग एकदम बंद हैं, जो अंदर कुछ ग्रहण नहीं करते, जो शक्तियों के प्रति जरा भी खुले नहीं हैं और फिर भी कल्पना करते हैं कि चूंकि वे घंटा-आधा-घंटा मेरे सम्मुख गप-शप में बिताने जा रहे हैं, इसलिये इससे

उन्हें अपने को रूपांतरित करने में सहायता मिलेगी, वे एक बहुत बड़ी भूल करते हैं। परंतु वे यदि अपने भीतर खुले हैं, यदि वे दिव्य शक्ति के साथ संपर्क बनाये हुए हैं और अपने को रूपांतरित करने का प्रयास करते हैं तो एक विशिष्ट मुहूर्त्त में, संभवत: किसी वार्तालाप या भौतिक संपर्क, उपस्थिति से उन्हें एक अधिक सर्वांगपूर्ण प्रगति करने में सहायता मिल सकती है।

मनुष्य बहुत आसानी से अत्यंत निकट रह सकता है, दैनिक जीवन में बाह्य रूप से समीप रह सकता है और हो सकता है उससे उसे, कम-से-कम सक्रिय चेतना में, एकदम कुछ भी लाभ न हो। संभवत: एक बहुत धीमी और गहरी क्रिया चलती रहती है ... पर मुझे ऐसा लगता है कि वह किसी भी हालत में चलती रहेगी। और अगर, किसी-न-किसी कारणवश मेरे आस-पास रहते हुए, मनुष्य का विचार अन्यत्र हो, इच्छाएं अन्यत्र हों, कर्म-प्रवृत्तियां भिन्न हों तो उसका समीप रहना पूर्ण रूप से अनुपयोगी होता है, उससे कोई लाभ नहीं होता।

महत्त्वपूर्ण बात है आंतरिक संपर्क स्थापित करना; यथार्थ वही महत्त्वपूर्ण बात है। तब विशेष प्रसंगों में (शायद बहुत बार नहीं, वह प्रत्येक व्यक्तिगत निर्भर करता है), पर विशेष प्रसंगों में, उपस्थिति कुछ चीज जोड़ देती है, एक अधिक ठोस, अधिक सुनिश्चित अनुभूति प्रदान करती है। परंतु, यदि भीतर कुछ नहीं है तो वह बिलकुल बेकार है। अतएव हम कोई सामान्य नियम नहीं बना सकते, यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करता है, उस स्थिति पर निर्भर करता है जिसमें व्यक्ति रहता है।

(मौन)

देखो, यह विश्वास करना आम भूल है कि बाहर से आरंभ करना चाहिये और अंदर समाप्त। बात ऐसी नहीं है। आरंभ तो भीतर से करना चाहिये और बाद में बाहर आना चाहिये जब हम अंदर तैयार हो जाये।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
२६ सितम्बर १९५६

माताजी, जब हम आपके पास आते हैं, हम यथासंभव उत्तम बने रहने की, अर्थात्, बहुत अच्छे विचार रखने की कोशिश करते हैं; पर बहुधा, इसके विपरीत, हमारे अंदर दिन में जो-जो बुरी प्रवृत्तियां, बुरे विचार थे, वे सब ऊपर आ जाते हैं।

संभवत: उन सबसे छुटकारा पाना तुम्हारा काम है।

अगर वे आते हैं तो मनुष्य उन्हें अर्पण कर सकता है और उनसे मुक्त होने की प्रार्थना कर सकता है।

कदाचित् इसका कारण यह है : यह इसलिये ऐसा होता है कि दिव्य चेतना शुद्धि ले आने के लिये कार्य करती है। वस्तुओं को छिपाने और उन्हें इस प्रकार पीछे धकेल देने से, और यह कल्पना करने से कि वे यहां नहीं हैं क्योंकि हमने सामने एक पर्दा डाल दिया है, बिलकुल कोई लाभ नहीं। यह कहीं अधिक अच्छा है कि मनुष्य अपने-आपको वैसा देखे जैसा कि वह है – बशर्ते कि वह अपने जीवन के इस तरीके को छोड़ देने के लिये तैयार हो। यदि कोई हमारे पास

आता है और अपनी सभी बुरी प्रवृत्तियों को ऊपरी सतह पर आने देता है, अपने-आपको दिखाने देता है; यदि वह उन्हें अर्पण करता है, यदि वह कहता है : ''हां, तो मैं ऐसा ही हूं'' और यदि उसके साथ-ही-साथ उसमें अन्य प्रकार का बनने की अभीप्सा है, तो सान्निध्य का यह क्षण पूरी तरह उपयोगी होता है; मनुष्य, हां, कुछ क्षणों में ही वह साहाय्य ग्रहण कर सकता है जो उनसे छुट्टी पा जाने के लिये आवश्यक है; इसके विपरीत, यदि कोई छोटे-से संत की तरह आता है और कोई चीज ग्रहण किये बिना चला जाता है तो वह बहुत लाभदायी नहीं होता।

सहज-स्वाभाविक रूप से दिव्य चेतना उस प्रकार कार्य करती है, वह एक किरण की तरह होती है जो वहां प्रकाश लाती है जहां पहले कोई प्रकाश नहीं था। परंतु आवश्यकता बस यही है कि मनुष्य उस स्थिति में हो जिसमें इस वस्तु को त्याग देना, उससे छुट्टी पा जाना चाहता है - उससे चिपका रहना और उसे बनाये रखना नहीं चाहता। यदि कोई सच्चाई से उसे अपने अंदर से निकाल फेंकना, उसे निश्चिह्न कर देना चाहता है तो यह बहुत उपयोगी है।

(मौन)

अवश्य ही, मैं एक प्रश्न पूछना चाहूंगी : क्यों (मैं नहीं जानती कि यह आम बात है या नहीं पर फिर भी), क्यों कोई व्यक्ति जब मेरे पास आता है तो अच्छे विचार रखना तथा अपनी उच्चतम स्थिति में रहना चाहता है? किस कारण से?

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
२६ सितम्बर १९५६

आपके सामने बुरी भावनाओं को बनाये रखना बहुत भद्दा है! (हंसी)

यदि उन्हें कोई रखना चाहता है तो हां, यह बहुत गंदा है, पर, अगर कोई उनसे छुटकारा पाना चाहता है! ..... वह संभवत: उनसे छुटकारा पाने का एक सुअवसर भी है, क्योंकि मेरे सम्मुख वे ठीक वैसी ही दिखायी देती हैं जैसी कि वे हैं; जब कि मुझसे दूर होने पर वे अपने-आपको बहुत प्रकार के, तेज और मिथ्या, रंगों में चित्रित करती हैं ताकि तुम उन्हें उस वस्तु के रूप में ग्रहण करो जो वे नहीं है। जब प्रवृत्ति गंदी होती है और मनुष्य उसे मेरे वातावरण के अंदर देखता है तो वह ठीक-ठीक वैसी ही दिखायी देती है जैसी वह होती है। तब वही उससे मुक्त होने का मुहूर्त्त होता है।

(मौन)

मनुष्य के पास जो सर्वोत्तम है उसे दे देना बहुत सुन्दर है और उसकी बहुत कद्र की जाती है; परंतु उसके पास जो कुछ निकृष्ट है उसे दे देना और भी अधिक लाभकारी है; और संभवत: इस पूजार्पण की कद्र और भी अधिक की जाती है - इस शर्त पर कि उसे उससे मुक्ति पाने के लिये दिया जाता है, न कि बाद में फिर से ग्रहण लेने के लिये!

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
२६ सितम्बर १९५६

मां, यदि किसी की प्रकृति का कोई एक भाग नहीं खुलता तो उसे खोलने के लिये अभीप्सा करने की क्या विधि है?

तुम यह अभीप्सा कर सकते हो कि यह भाग खुले – जो भाग खुला है वह दूसरे के खुलने के लिये अभीप्सा करे। कुछ समय बाद वह खुल जायेगा; व्यक्ति को अभीप्सा करते रहना चाहिये। केवल ऐसा ही, आग्रह के साथ, करते रहना होगा। कोई ऐसी वस्तु है जो खुलना नहीं चाहती, कोई तीव्र प्रतिरोध है जो ऐसा नहीं चाहता, वह एक हठीले बच्चे की भांति कहती है : ''मैं नहीं चाहती, मैं वही बना रहना चाहती हूं जो मैं हूं, मैं यहां से नहीं हिलूंगी।'' ... वह यह नहीं कहती : ''मैं अपने-आपसे तुष्ट हूं,'' क्योंकि वह ऐसा कहने की हिम्मत नहीं करती। किन्तु सत्य यह है कि वह अपने-आप में बिल्कुल संतुष्ट है, इसलिये अपने स्थान से नहीं हिलती।

किन्तु जब व्यक्ति अभीप्सा करना चाहे तो क्या उसे यह न जानना चाहिये कि उसका कौन-सा भाग अभीप्सा नहीं कर रहा है?

ओह! हां, किन्तु यदि व्यक्ति सच्चा है तो वह उस भाग को जान लेगा। अगर वह अपनी ओर सच्चाई से देखे, तो वह निश्चय ही जान लेगा। पर यदि वह शुतुरमुर्ग की भांति आंखें मींच लेगा तो कुछ नहीं जान पायेगा : वह अपनी आंखें बन्द कर लेगा, सिर दूसरी ओर मोड़ लेगा, उस ओर देखेगा ही नहीं और कहेगा : ''यहां ऐसा कोई भाग नहीं है।'' किंतु यदि व्यक्ति सच्चाई से अपनी ओर देखे तो उसे यह भली-भांति पता चल जायेगा कि वह भाग कहां है – वह कहीं एक कोने में दुबका पड़ा है, अपने-आप में गुड़ी-मुड़ी, बन्द, जकड़ा हुआ। और तब, जब तुम जाकर इस तरह उस पर सीधा प्रकाश फेंको, सीधा उसी पर, तो उसे कष्ट होता है, होता है न?

मां, ग्रहणशीलता किस बात पर निर्भर करती है?

इसका पहला आधार है सच्चाई – क्या व्यक्ति सचमुच ग्रहण करना चाहता है – और तब ... हां, मेरे विचार में इसके लिए मुख्य वस्तुएं हैं।

सच्चाई और नम्रता। घमण्ड जितना तुम्हारे हृदय के द्वार बन्द कर देता है उतना कोई और वस्तु नहीं करती। जब तुम अपने में संतुष्ट रहते हो, तो यह तुम्हारे भीतर का अहं ही होता है जो तुम्हें यह मानने ही नहीं देता कि तुम्हारे अंदर भी कोई कमी है, कि तुम भी गलतियां करते हो, कि तुम भी अपूर्ण हो, कि कहीं कुछ छूट गया है, कि तुम ...। जानते हो, तुम्हारी प्रकृति में कोई ऐसी चीज मौजूद है जो इस प्रकार कठोर पड़ जाती है, जो अपना दोष स्वीकार करना नहीं चाहती – यही चीज तुम्हें उच्चतर वस्तु को ग्रहण करने से रोकती है। बहरहाल, इस अनुभव को प्राप्त करने के लिये तुम कोशिश कर सकते हो। यदि तुम संकल्प-शक्ति के बल पर अपनी सत्ता के एक छोटे-

से भाग से भी यह कहलवा सको कि "ओह, हां, हां, यह मेरी भूल थी, मुझे ऐसा नहीं होना चाहिये था, मुझे ऐसा करना और सोचना भी नहीं चाहिये था, हां, यह मेरा दोष है," यदि तुम उससे यह स्वीकार करा सको तो शुरू-शुरू में तो, जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा, तुम्हें इससे कष्ट होगा, पर यदि तुम इसपर अड़े रहे, जबतक कि वह पूरी तरह स्वीकृत न हो जाय, तो वहभाग तत्काल ही खुल जायेगा - वह खुल जायेगा और प्रकाश का पुंज उसके अंदर प्रवेश कर जायेगा, और तब तुम बाद में इतने प्रसन्न आनंदित हो उठोगे कि तुम अपने से पूछोगे : "आखिर क्यों, मैं इतने समय आखिर क्यों अड़ा हुआ था? कैसा मूर्ख था मैं!"

---

२१ जुलाई, १९८५

शक्ति का अपव्यय मत करो

मनुष्य शक्ति को सुरक्षित रखना नहीं जानते। जब कभी कुछ हो जाता है, कोई दुर्घटना या कोई बीमारी, तो मनुष्य सहायता की मांग करते हैं और दुगुनी, तिगुनी मात्रा में शक्ति उन्हें दी जाती है। वे अनुभव करते हैं कि वे ग्रहणशील हैं और ग्रहण कर लेते हैं। यह शक्ति दो कारणों के लिये दी जाती है : दुर्घटना या बीमारी के कारण आयी अव्यवस्था को ठीक करना, और सुधार करने के लिये उस चीज को बदलने की शक्ति देना जो बीमारी या दुर्घटना का सच्चा कारण था।

शक्ति का इस तरीके से उपयोग करने की बजाय, वे उसे तुरंत, तुरंत बाहर फेंक देते हैं। वे घूमना शुरू कर देते हैं, सक्रिय होना, काम करना, बोलना शुरू कर देते हैं ... वे अपने-आपको शक्ति से भरपूर अनुभव करते हैं और सब कुछ बाहर फेंक देते हैं! वे कुछ भी नहीं रख सकते। तब स्वभावत: चूंकि शक्ति इस तरह नष्ट करने के लिये नहीं, बल्कि आंतरिक उपयोग के लिये थी, वे एकदम छूंछे पड़ जाते हैं। यह सर्वसामान्य है। वे नहीं जानते, वे यह क्रिया करना नहीं जानते : अपने अन्दर जाना, उस शक्ति का उपयोग करना - उसे रखना नहीं, उसे रखा नहीं जा सकता - उसका उपयोग करना, शरीर में हुई हानि को ठीक करना और गहरे उतरकर दुर्घटना या बीमारी के कारण को जानना, और वहां, उसे अभीप्सा, आंतरिक रूपांतरण में बदल देना, यह वे नहीं जानते। इसके स्थान पर, लोग तुरंत बातें करना, घूमना-फिरना, क्रिया करना इस या उस काम को करना शुरू कर देते हैं।

वस्तुत:, अधिकतर मानव अपने-आपको जीवित तभी अनुभव करते हैं जब वे अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हों अन्यथा उन्हें वह जीवन ही नहीं लगता।

शक्ति का अपव्यय न करने का अर्थ है उसका उसी उद्देश्य के लिये उपयोग करना जिसके लिये वह दी गयी है। अगर शक्ति रूपांतर के लिये, सत्ता उन्नयन के लिये दी गयी हो तो उसका उसी के लिये उपयोग करना चाहिये, अगर शक्ति शरीर में हुई किसी अव्यवस्था को ठीक करने के लिये दी गयी है, तो उसका उपयोग उसी के लिये करना चाहिये।

स्वभावत: अगर किसी को कार्य-विशेष दिया गया है और अगर उसे उस कार्य को करने के लिए शक्ति भी दी गयी है, तो ठीक है, वह अपने निजी उद्देश्यों के लिये उपयोग में आयेगी, वह उसी के लिये तो दी गयी थी।

जैसे ही मनुष्य शक्ति से भरपूर अनुभव करता है, वह तुरंत क्रिया की ओर दौड़ता है। या, जिनके अन्दर कोई उपयोगी वस्तु करने की अक्ल नहीं होती वे बकवास करते हैं। इससे भी खराब वे होते हैं जिनका अपने ऊपर कोई नियंत्रण नहीं होता, वे असहिष्णु हो उठते हैं और कलह करने लगते हैं। अगर उनकी इच्छा का विरोध हो तो वे अपने-आपको शक्ति से भरपूर अनुभव करते हैं और उसे पवित्र क्रोध रूप में ले लेते हैं!

श्रीमातृवाणी भाग-३
पृ.सं. ४१८

बहुधा ऐसा अनुभव होता है कि हम किसी विकार या गलत गतिविधि के विरूद्ध न्यूनाधिक सफलतापूर्वक संघर्ष कर रहे हैं, लेकिन ठीक उस समय जब हम पूर्ण विजय की आशा छोड़ देते हैं, तो ऐसा लगता है मानों उसे बाहर से हटा लिया गया है। ऐसा क्यों होता है?

इसके दो मुख्य कारण हैं। ऐसी अवस्था में तुम अचानक ग्रहणशील बन सकते हो, और ग्रहणशीलता की इस स्थिति में तुम उस सहायता को पा लेते हो जो विकार को दूर करने के लिए आवश्यक होती है और इस तरह सहायता प्रभावशाली हो जाती है। दूसरा कारण यह है कि, धैर्य और अध्यवसाय के साथ कोशिश करते-करते, शायद अजाने ही – तुम अवचेतना में कठिनाई के स्त्रोत को पा लेते हो। एक बार यह हो जाय तो तुम अपने अन्दर जिसे रूपांतरित करना चाहते थे उसका रूपांतर करना आसान हो जाता है। लेकिन तुम्हें ऐसा लग सकता है कि यह रूपांतर "बाहर से" आया है, क्योंकि जो कुछ हो रहा था उसके बारे में तुम सचेत नहीं थे। यह बाहर से नहीं आता, यह तुम्हारी क्रियाशील चेतना के बाहर होता है, केवल अपनी क्रिया के "परिणाम" का भान होता है। यह इन दोनों में से कोई एक बात हो सकती है या फिर दोनों ही हो सकती हैं।

श्रीमातृवाणी भाग-३
पृ.सं. ३६९

---

२१ फरवरी, १९५२

हमें वीर योद्धा बना, बस यही हमारी अभीप्सा है। अतीत ज्यों-का-त्यों बना रहना चाहता है और उसके विरुद्ध भविष्य उत्पन्न होकर ही रहेगा – उसी भविष्य के महान् युद्ध को हम सफलता के साथ चलायें ताकि नवीन चीजें अभिव्यक्त हो सकें और हम उन्हें ग्रहण करने के लिये तैयार हो जायें।

श्रीमातृवाणी भाग-३
पृ.सं. १८८

मां, यहां लिखा है : ''भागवत 'प्रेम' की तीव्रता सत्ता में कहीं भी विक्षोभ पैदा नहीं करती।''

हां।

किंतु यदि किसी का शरीर दुर्बल हो तो क्या भागवत 'प्रेम' की तीव्रता उसमें क्षोभ पैदा नहीं कर देगी?

शरीर में? भागवत 'प्रेम' भला शरीर को क्यों विक्षुब्ध करेगा?

किंतु यदि वह उसकी तीव्रता को सह न सके तो?

तब, संभवत: वह भागवत 'प्रेम' होगा ही नहीं; मुझे तुम्हारी बात समझ में नहीं आयी। जहां तक भागवत प्रेम का सम्बन्ध है व्यक्ति स्वभावत: उतना ही पाता है जितना वह सह सकता है।

भागवत 'प्रेम' तो अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ एक विराट् शक्ति के रूप में सदैव उपस्थित रहता है। किंतु अधिकतर मनुष्य – निन्यानवे प्रतिशत – कुछ भी अनुभव नहीं करते। वे जो अनुभव करते हैं वह ठीक उसी अनुपात में होता है कि वे क्या हैं, और उनमें कितनी ग्रहणशीलता है। उदाहरण के लिये, कल्पना करो कि तुम एक ऐसे वायुमण्डल में स्नान कर रहे हो जो भागवत 'प्रेम' से पूर्णतया स्पन्दित है – और तुम उस सबसे एकदम अनभिज्ञ हो। कभी बहुत ही कम, कुछ सेकिंड के लिये अचानक ही तुम्हें ''किसी वस्तु'' की अनुभूति होती है और तुम कहते हो : ''ओह, भागवत 'प्रेम' मेरी ओर आया था!'' बात हंसी की है! जब कि वास्तव में हुआ यह था कि किसी-न-किसी कारण तुम कहीं जरा-से खुले थे, अतएव तुम्हें उसकी अनुभूति हुई। वह तो भागवत 'चेतना' की तरह, सदा ही उपस्थित रहता है। वह भी हर समय अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ उपस्थित रहती है। पर व्यक्ति उसके संबन्ध में कुछ भी नहीं जानता; अथवा इसी प्रकार बीच-बीच में अनुभव करता है : अचानक ही जब व्यक्ति कुछ अच्छी अवस्था में होता है तो उसे किसी वस्तु का अनुभव होता है और वह कहता है : ''ओह, भागवत 'चेतना', भागवत 'प्रेम' मेरी ओर मुड़े हैं, मेरी ओर आये हैं!''

पर बात ऐसी बिल्कुल नहीं है। व्यक्ति कहीं जरा-सा खुला होता है, बहुत जरा-सा कभी-कभी सुई की नोक जितना और स्वभावतया, शक्ति उसमें बड़े वेगपूर्वक प्रवेश करती है। कारण, यह सक्रिय वायुमंडल जैसा है, जब कभी ग्रहण करने की संभावना हो तो इसे ग्रहण कर लिया जाता है। यह बात तो सभी भागवत वस्तुओं के साथ है। वे उपस्थित हैं, केवल व्यक्ति उन्हें ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं बन्द होता है, उसके अंदर कोई रुकावट होती है, वह अधिकतर अन्य वस्तुओं में व्यस्त रहता है। बल्कि अधिकतर तो व्यक्ति अपने में ही व्यस्त रहता है, चूंकि व्यक्ति अपने-आपसे भरा रहता है, इसलिये किसी अन्य वस्तु के लिये स्थान नहीं रहता। व्यक्ति बड़े सक्रिय रूप में (माताजी हंसती है) अन्य वस्तुओं में व्यस्त रहता है। वह वस्तुओं से इतना भरा रहता है कि उसमें भगवान् के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

किंतु वे उपस्थित हैं।

यह भी उन सब चमत्कारों की न्याई है जो तुम्हारे चारों ओर फैले हैं, तुम उन्हें देखते नहीं। देखते हो क्या? ... नहीं। कभी-कभी, केवल उसी समय, जब तुम जरा, बहुत ही जरा-से ग्रहणशील होते हो, अथवा निद्रा में, जब तुम अपनी छोटी-मोटी बातों में थोड़ा कम ऐकांतिकरूप से व्यस्त होते हो, तुम्हें उस वस्तु की एक झलक मिल जाती है, तुम उसे देख लेते हो, अनुभव कर लेते हो। किंतु साधारणतया तो ऐसा होता है कि ज्यों ही तुम जागते हो, यह सब घुल-पूंछ जाता है – जैसा कि तुम्हें पता है, इसका पहला कारण होता है वह भयावह अहं जो केवल अपने से ही भरपूर रहता है और फिर समूचा विश्व इस अहं के चारों ओर घूमता है : तुम केंद्र में होते हो और विश्व तुम्हारे चारों ओर घूमता है। यदि तुम ध्यानपूर्वक अपनी ओर देखो तो तुम देखोगे कि यह ऐसा ही है। विश्व की तुम्हारी अनुभूति ऐसी ही होती है – तुम केंद्र में और विश्व तुम्हारे चारों ओर। अतएव वहां किसी और वस्तु के लिये स्थान ही नहीं रहता। तुम विश्व को नहीं, विश्व में अपने-आपको देखते हो।

इसलिये, सबसे पहले, शुरू के लिये व्यक्ति को अपने अहं से बाहर निकल सकना होगा। इसके बाद इसे, समझ रहे हो, एक असत् की सी अवस्था में होना चाहिये। तब तुम कुछ ऊपर उठकर वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखना आरंभ करोगे। किंतु यदि तुम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखना चाहते हो, तो तुम्हें पूर्णतया एक दर्पण के समान होना होगा : नीरव, शांत, अचल और निष्पक्ष, तुम्हें अपनी कोई भी अभिरुचि न रखते हुए पूर्णतया ग्रहणशील अवस्था में रहना होगा। यदि तुम ऐसे हो जाओ, तो यह देखने लगोगे कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएं हैं जिनके बारे में तुम कुछ भी नहीं जानते, किंतु जो मौजूद हैं, और जो तुम्हारे अन्दर क्रियाशील होना आरंभ कर देंगी।

तब तुम विश्व में जो छोटे-से बिंदु हो उसी में पूरी तरह बन्द रहने के स्थान पर इन वस्तुओं में निवास कर सकोगे।

अपने से बाहर निकलने के तरह-तरह के तरीके हैं। किंतु यदि तुम वस्तुओं-को उनके असली रूप में जानना चाहो, अपने साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं, तो यह अनिवार्य है।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
१९५४ पृ.सं. १३४

अहं से बाहर निकलने के लिये व्यक्ति को कौन-सी वृत्ति अपनानी चाहिये?

वृत्ति? बल्कि संकल्प, है न? तुम्हें इसके लिये संकल्प करना पड़ेगा...। क्या तुम यही पूछ रहे हो कि इसके लिये क्या करना चाहिए?

अपने-आपको भगवान् को सौंप देना ही सबसे अधिक सुनिश्चित तरीका है; भगवान् को अपनी तरफ खींचने की कोशिश न करो, वरन् अपने-आप को भगवान् को समर्पित करने का प्रयत्न

करो। तब तुम कम-से-कम अपने से थोड़ा बाहर निकलने के लिये बाधित तो हो ही जाते हो। जानते हो, साधारणतया, ऐसा होता है कि जब लोग भगवान् के विषय में सोचते हैं, तो पहला काम यह करते हैं कि भगवान् को अपनी ओर अधिकाधिक ''खींचें''। और तब, सामान्यतया, वे कुछ भी नहीं पाते। वे कहते हैं : ''आह! मैंने उन्हें पुकारा, उनसे प्रार्थना की, पर मुझे उत्तर नहीं मिला, कोई उत्तर नहीं मिला, कुछ भी तो नहीं मिला।'' किंतु यदि तुम उनसे पूछो : ''क्या तुमने अपने-आपको उन्हें दिया था?'' – ''नहीं, मैंने उन्हें खींचा था।'' – ''ओह, तभी वे नहीं आये!'' यह नहीं कि वे नहीं आये, वास्तविक बात यह है कि जब तुम खींचते हो, तो तुम अपने अहं में इतने बन्द हो जाते हो (जैसा कि मैंने अभी तुम्हें बताया था) कि तुम्हारे और जो वस्तु तुम्हें ग्रहण करनी है उसके बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। तुम अपने-आपको एक कारागृह में बन्द कर लेते और तब तुम्हें इस बात पर आश्चर्य होता है कि अपने करागृह में तुम कुछ अनुभव नहीं करते।

और वह कारागृह भी कैसा, जिसकी कोई भी खिड़की सड़क पर नहीं खुलती।

अपने-आपको बाहर की ओर उंडेल दो (माताजी बाहर की ओर अपनी हथेलियां खोलती हैं), बिना कुछ छिपाये, अपने-आपको समर्पित कर दो, केवल समर्पण के आनन्द के लिये, केवल तभी यह संभावना रहती है कि तुम्हें अनुभव हो सके।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
१९५४ पृ. सं. १३६

मधुर मां, ''भागवत 'शक्ति' की ओर अपने अन्दर ऐकांतिक उद्घाटन'' का अर्थ क्या है?

अपने अन्दर उद्घाटन की जगह हम ग्रहणशीलता रख सकते हैं, कोई ऐसी चीज जो ग्रहण करने के लिये खुलती हो। इसलिये, सब तरफ से खुलकर, सब तरफ से और सब लोगों से ग्रहण करने की जगह, जैसा कि सामान्यत: होता है, तुम केवल भगवान् की ओर खुलते हो ताकि केवल भागवत शक्ति ही ग्रहण कर सको। सामान्यत: मनुष्य ठीक इससे उल्टा करते हैं। वे सतह पर हमेशा खुले रहते हैं, हर तरफ से, हर प्रकार के प्रभाव को स्वीकारते हैं। तब फिर उनके अन्दर, हम कह सकते हैं, हर प्रकार की परस्पर-विरोधी गतिविधियों की एक खिचड़ी बन जाती है (माताजी हंसती हैं), और स्वभावत: उससे अनगिनत कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। इसलिये यहां, बाकी सब कुछ छोड़कर केवल भगवान् की तरफ खुलने की और केवल भागवत शक्ति के प्रति ही खुलने की सलाह दी गयी है। इससे लगभग सारी कठिनाइयां विलीन हो जाती हैं। केवल एक ही चीज कठिन रह जाती है। वह है...। तुम उसे कर सकते हो। जबतक तुम पूरी कमियों की अवस्था में न हो, तो, लोगों के संपर्क में रहना, उनसे बातचीत करना, उदाहरण के लिये, बिना किसी चीज को आत्मसात् किये उनके साथ किसी भी प्रकार की अदला-बदली करना कठिन है। यह कठिन है। अगर हम एक प्रकार के ... अगर हम एक ऐसे वातावरण में हों जो छन्ने के समानहो, तो बाहर से जो कुछ आता है वह तुम्हें छूने से पहले शुद्ध हो जाता है। लेकिन यह बहुत कठिन है; इसके लिये बहुत

अनुभव जरूरी है। इसीलिये तो, जो लोग सबसे सरल रास्ता चाहते थे, एकांत में एक पेड़ के नीचे बैठने के लिये चले जाते थे, बात करना और किसी से मिलना बन्द कर देते थे; क्योंकि इससे अप्रिय आदान-प्रदान कम करने में सहायता मिलती है। केवल, एक चीज देखी गयी है कि ये लोग छोटे-छोटे जानवरों के जीवन में, वनस्पति जीवन में बहुत ज्यादा रस लेने लगते हैं, क्योंकि किसी भी चीज के साथ आदान-प्रदान न करना कठिन है। इसलिये समस्या का सामना करना और एक ऐसे वातावरण से घिरे रहना ज्यादा अच्छा है जो भगवान् पर इतना अधिक एकाग्र हो कि जो कुछ इस वातावरण को पार करताहै वह रास्ते में ही शुद्ध बन जाता है।

और जब यह भी हो जाय, तब भी आहर का सवाल रह जाता है; जब तक जिंदा रहने के लिये हमारा शरीर बाहरी पदार्थों को आत्मसात् करने के लिये बाधित है, तब तक वह अचल या अचेतन शक्तियों को या अवांछनीय चेतना वाली शक्तियों को भी काफी मात्रा में आत्मसात् करता रहेगा। और यह कीमिया अपने शरीर के अन्दर ही होना चाहिये। हम उन चेतनाओं की बात कर रहे थे जिन्हें हम आहार के साथ आत्मसात् करते हैं, लेकिन आहार के साथ बहुत-सी निश्चेतना को भी आत्मसात् करते हैं – बहुत-सी। इसीलिये बहुत-से योगों में खाने से पहले आहार का भगवान् को भोग लगाने की सलाह दी जाती थी (माताजी अर्पणभाव की मुद्रा दिखाती हैं, दोनों हाथ जोड़कर हथेलियां ऊपर की ओर खोलती हैं)। इसमें खाना खाने से पहले आहार में भगवान् का आवाहन करते हैं। उसे भगवान् के प्रति अर्पित करते हैं – यानी, उसे भगवान् के सम्पर्क में लाते हैं, ताकि उसे आत्मसात् करते समय भगवान् के प्रभाव में रह सकें। यह बहुत उपयोगी है, बहुत अच्छा है। अगर हम करना जानें, तो यह बहुत उपयोगी है, हमें जो आंतरिक रूपांतर का काम करना है उसे यह बहुत कम कर देता है। लेकिन वर्तमान जगत् में, जैसा कि वह है, हम सब एक दूसरे पर निर्भर हैं, समझे। स्पन्दनों को आत्मसात् किये बिना तुम हवा को भी आत्मसात् नहीं कर सकते, वे अनगिनत स्पन्दन जो हर प्रकार की गतिविधि और हर प्रकार के लोगों से आते हैं, और अगर तुम्हें सुरक्षित रहना है तो निरंतर उस छन्ने की अवस्था में रहना होगा जिसकी मैं बात कर रही थी। यानी, जो कुछ अप्रिय है उसे घुसने का अधिकार नहीं होना चाहिये, जैसे संदूषित स्थानों में जाते हुए मुंह पर नकाब पहन लेते हैं, ताकि सांस लेने से पहले हवा शुद्ध हो जाय। हां तो, कुछ-कुछ ऐसा ही करना चाहिये। अपने चारों ओर एक ऐसा तीव्र वातावरण होना चाहिये जो पूरी तरह भगवान् के प्रति समर्पित हो, अपने चारों ओर वह इतना तीव्र हो कि जो कुछ वहां से गुजरे वह स्वाभाविक रूप से शुद्ध होता जाय। बहरहाल, जीवन में यह बहुत उपयोगी है, क्योंकि – हम इसके बारे में बात कर चुके हैं – बुरे विचार, बुरी इच्छाएं, बुरा चाहने वाले लोग होते हैं, जो रचनाएं बनाते हैं। वातावरण में हर प्रकार की बिल्कुल अप्रिय चीजें होती हैं। इसलिये, अगर सारे समय निगरानी रखनी पड़े, इर्द-गिर्द देखते रहना पड़े, तो तुम एक ही चीज के बारे में सोच सकोगे, अपनी रक्षा किस तरह की जाय। सबसे पहले तो यह उबाऊ है, और फिर, उसमें तुम्हारा बहुत समय नष्ट होता है, समझे। अगर तुम इस तरह इस प्रकाश से, पूरी तरह प्रसन्नतापूर्ण, पूर्णत: सच्चे समर्पण के प्रकाश में लिपटे रहो, जब तुम इसमें लिपटे रहो, तो वह एक अद्‌भूत छन्ने का काम करता है। कोई भी चीज, जो बिल्कुल अवांछनीय है, कोई भी चीज जो दुर्भावनापूर्ण है वहां से नहीं

गुजर सकती। तब, सहज रूप से, वे जहां से आयी थीं वहीं लौट जाती हैं। अगर कोई बुरी सचेतन इच्छा तुम्हारे विरुद्ध है, तो वह आती तो है, पर उसमें से गुजर नहीं सकती; दरवाजा बन्द होता है, क्योंकि वहकेवल भागवत चीजों के लिये ही खुला रहता है, और किसी के लिये नहीं। इसलिये वह जहां से आयी थी वहीं चुपचाप लौट जाती है।

लेकिन ये सब, ऐसी चीजें हैं ...। एक प्रकार के अध्ययन और विज्ञान द्वारा हम उन्हें करना सीख सकते हैं। लेकिन बिना अध्ययन और बिना विज्ञान के भी हम उन्हें कर सकते हैं, बशर्ते कि अभीप्सा और समर्पण समग्र और संपूर्ण हों। अगर अभीप्सा और समर्पण संपूर्ण हैं, तो यह यंत्रवत् हो जायगा। लेकिन तुम्हें इसका ध्यान रखना चाहिये कि वे संपूर्ण हों;और इसके अतिरिक्त, जैसा कि मैं अभी कह रही थी, हम उसके बारे में अच्छी तरह अवगत हो सकते हैं, क्योंकि जिस क्षण वे पूर्ण नहीं होतीं, तुम सुखी नहीं रह पाते। तुम दु:खी, बहुत उदास, निरुत्साहित – और अप्रसन्न हो जाते हो : ''आज चीजें अनुकूल नहीं हैं। वे कल जैसी नहीं हैं; कल वे कितनी अद्‌भुत थीं; लेकन आज वे सुखद नहीं रहीं!'' क्यों? क्योंकि कल तुम पूर्ण समर्पण की अवस्था में थे, कम या अधिक पूर्ण और आज तुम उस अवस्था में नहीं रहे। इसलिये, कल जो चीज इतनी सुन्दर थी वह आज सुन्दर नहीं रही। तुम्हारे अन्दर जो खुशी थी, यह विश्वास था, यह आश्वासन था कि सब कुछ ठीक होगा, कि वह महान् 'कार्य' सिद्ध हो जायगा, यह निश्चित – यह सब ढक जाता है, समझे, उसका स्थान ले लेता है एक प्रकार का संदेह, और हां, एक असंतोष : ''चीजें सुन्दर नहीं हैं, जगत् दुष्ट है, लोग अच्छे नहीं हैं।'' कभी-कभी तो बात यहां तक पहुंच जाती है : ''आज खाना अच्छा नहीं है, कल बहुत अच्छा था।'' यह वही है पर आज वह अच्छा नहीं है! यह बैरोमीटर है! तुम तुरन्त कह सकते हो कि कहीं कोई कपट पैठ गया है। यह जानना बहुत आसान है, बहुत ज्ञानी होने की जरूरत नहीं है, क्योंकि जैसा कि श्रीअरविंद 'योग के तत्त्व' पुस्तक में कहते थे : हम सुखी हैं या दु:खी, संतुष्ट हैं या असंतुष्ट, यह हम अच्छी तरह जानते हैं, इसके लिये अपने-आपसे पूछने की, जटिल सवाल करने की कोई जरूरत नहीं है, हम जानते हैं! – हां, तो यह बहुत सरल है।

जिस क्षण तुम दु:ख अनुभव करने लगो उसी क्षण तुम उसके नीचे लिख सकते हो, ''मैं सच्चा नहीं हूं!'' ये दो वाक्य साथ-साथ चलते हैं :

''मैं दुखी हूं।''

''मैं सच्चा नहीं हूं।''

अब, कौन-सी चीज ठीक नहीं चल रही? तब फिर व्यक्ति देखने लगता है, वह जल्दी ही खोज लेता है...

तो यह लो, मेरे बच्चो। बस, इतना ही?

सब प्रश्न खत्म हो गये या नहीं?

(एक बच्चे से) तुमने अपना प्रश्न नहीं पूछा, पूछा क्या?

श्रीमातृ वाणी १९५४
पृ.सं. २११

मैं ज्ञानी नहीं हूं, क्योंकि मुझे कोई ज्ञान प्राप्त नहीं है, सिवा उस ज्ञान के जो भगवान् मुझे अपने कार्य के लिये देते हैं। मैं कैसे समझ सकता हूं कि जो कुछ मैं देखता हूं वह विवेक है या बुद्धिहीनता? नहीं, वह इन दोनों में से कोई नहीं है, क्योंकि देखी हुई वस्तु केवल सत्य होती है – न बुद्धिहीनता, न विवेक।

मैं ज्ञानी नहीं हूं ... ज्ञानी तो वह होता है जो 'ज्ञान' के मार्ग का अनुसरण करता है, वह होता है जो केवल 'ज्ञान' के द्वारा 'योग' की प्राप्ति करना चाहता है और जो एक विशुद्ध बौद्धिक पथ से आरंभ कर उससे परे पहुंच जाना तथा वह 'ज्ञान' प्राप्त करना चाहता है जो अब बौद्धिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक है। और श्रीअरविन्द कहते हैं : ''मैं 'ज्ञानी' नहीं हूं... मैं 'ज्ञान' की खोज नहीं करता, मैंने अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दिया है ताकि मेरे द्वारा उनका कार्य पूरा हो और भगवान् की कृपा से प्रति क्षण, उस काम को पूरा करने के लिये मुझे जो कुछ जानना चाहिये, उसे मैं जान जाता हूं।''

यह एक प्रशंसनीय स्थिति है, यह आत्मा की पूर्ण शांति की अवस्था है।

अब उपार्जित ज्ञानों, पढ़ी चीजों तथा याद रखने योग्य विषयों को संचित करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, हजारों चीजों से मस्तिष्क को लाद देने की कोई आवश्यकता नहीं ताकि जब चाहें तब, किसी कार्य को पूरा करने के लिये, कोई शिक्षा देने के लिये या कोई समस्या सुलझाने के लिये आवश्यक ज्ञान हमारे पास मौजूद रहे। अब तो मस्तक शांत है, मस्तिष्क स्थिर है, सब कुछ शून्य, स्थिर, शांत है, और जिस क्षण आवश्यकता होती है उसी क्षण, भगवान् की 'कृपा' से प्रकाश की एक बूंद चेतना के अंदर टपक पड़ती है और जो कुछ जानना जरूरी होता है उसे मनुष्य जान जाता है। अब भला याद रखने की क्या चिंता? अब भला इस ज्ञान को बनाये रखने की चिंता कोई क्यों करे? उस दिन या उस क्षण जब कि इसे पाने की जरूरत होगी यह हमें फिर से प्राप्त हो जायेगा। प्रत्येक मुहूर्त ही हम एक कोरे पृष्ठ की तरह होते हैं जिसपर जानने योग्य बातें लिख दी जाती हैं – पूर्ण ग्रहणशीलता की शांति, विश्रांति तथा निश्चल-नीरवता में।

उस समय जानने लायक चीज जानी जाती है, देखने लायक चीज दिखायी देती है, और चूंकि जानने लायक और देखने लायक विषय सीधे परात्पर भगवान् से आते हैं, इसलिये वे साक्षात् सत्य ही होते हैं, और वे विवेक या बुद्धिहीनता दोनों की धारणाओं से सर्वथा परे होते हैं। जो चीज सत्य है वह बस सत्य है – बस यही। यदि तुम यह प्रश्न करो कि वह वस्तु मूर्खतापूर्ण है या विवेकपूर्ण तो तुम्हें काफी नीचे उतर आना पड़ेगा।

बस, आवश्यक है निश्चल-नीरवता और विनम्र, विनीत, सतर्क ग्रहणशीलता। न तो अपने को दिखाने की कोई चिंता होनी चाहिये और न होने की ही – बस, एकदम, विनम्र, एकदम विनीत, एकदम सरल-भाव से यंत्र बन जाना चाहिये जो स्वयं कुछ नहीं है और न कुछ जानता है पर जो सब कुछ ग्रहण करने तथा सब कुछ प्रसारित करने के लिये तैयार है।

पहली शर्त है आत्मविस्मृति, पूर्ण आत्म-समर्पण, अहं का अभाव।

और शरीर परम प्रभु से कहता है : "तू जो कुछ चाहता है कि मैं बनूं, वही बनूंगा, तू जो कुछ चाहता है कि मैं जानूं, वही जानूंगा, तू जो कुछ चाहता है कि मैं करूं, वही करूंगा।"

श्रीमातृवाणी भाग १०

पृ.सं. ११

"कर्म में तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होगा भागवती 'शक्ति' की लीला में उनकी सेवा करना, उन्हें धारण करना, चरितार्थ करना और उनके प्राकट्य यंत्र बनना ....।"

–श्रीअरविंद : 'माता'

जब तुम कर्म करते हो तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होता है सेवा करना, अर्थात् अपने व्यक्तिगत हित के लिये कर्म करने के बदले, तुम भागवती 'शक्ति' की सेवा करने, उसे ग्रहण करने, बाहर से नहीं (इस बात में तुम्हें बिलकुल विश्वास नहीं करना चाहिये), बल्कि अपने अंदर से ग्रहण करने, जो दिव्य 'शक्ति' अपने कार्य में तुम्हारा उपयोग करेगी उसकी ओर अपने को उद्घाटित करने, और जो कुछ वह 'शक्ति' तुमसे संसिद्ध कराना चाहती है उसे संसिद्ध करने की भावना के साथ कर्म करते हो। वहां अहंभाव के लिये कोई स्थान नहीं है। यह एक वस्तु देने और उसके बदले दूसरी वस्तु ग्रहण करने का कोई विषय नहीं है, यह वैसी बात नहीं है; यह बाहर से ग्रहण करने का कोई प्रश्न नहीं है।

कुछ साधानाएं ऐसी हैं जो इसे एक नियम बना लेती हैं (हम नियमों को पसंद नहीं करते क्योंकि वे सर्वदा मनमाने और कृत्रिम होते हैं) कि भगवान् या भगवान् के प्रतिनिधि गुरु के सिवा किसी व्यक्ति से कोई वस्तु बिलकुल नहीं ग्रहण करनी चाहिये। कुछ लोग किसी व्यक्ति से एक फल भी नहीं ग्रहण करते क्योंकि वह गुरु से नहीं आता। यह एक अतिरंजना है – यह निर्भर करता है परिस्थितियों पर, अवस्थाओं पर, और यह बहुत अधिक उस मनोभाव पर भी निर्भर करता है जिसे मनुष्य ग्रहण करता है, यह बहुत सारी बातों पर निर्भर करता है, इसकी व्याख्या करने में बहुत अधिक समय लगेगा – पर एक बात है जिसे तुम्हें अवश्य सीखना होगा, भगवान् के सिवा कभी किसी दूसरे मनुष्य या दूसरी वस्तु पर, चाहे वह जो हो, निर्भर नहीं करना। कारण, यदि तुम किसी व्यक्ति पर सहारा लेने के लिये झुकोगे तो वह सहारा टूट जायेगा, तुम इस विषय में निस्संदिग्ध हो सकते हो। जिस क्षण से तुम योग करना आरंभ करते हो (मैं सर्वदा उन लोगों की बात कहती हूं जो योग करते हैं, मैं साधारण जीवन के बारे में चर्चा नहीं करती), जो योग करते हैं उनके लिये किसी अन्य व्यक्ति पर निर्भर करने का अर्थ है उस व्यक्ति को दिव्य शक्ति के एक प्रतिनिधि में रूपांतरित कर देने की इच्छा करना; अब तुम यह निश्चित रूप से मान सकते हो कि लाखों-करोड़ों में एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं होता जो उस भार को वहन कर सके, वह तुरंत चूर-चूर हो जायेगा।

अतएव भगवान् के अतिरिक्त और किसी से सहारा, साहाय्य, सुख पाने की आशा करने का मनोभाव न ग्रहण करो। यह बात एकदम सुनिश्चित है; मैंने कभी, एक बार भी, किसी व्यक्ति को नहीं देखा है जिसने कोई साहाय्य पाने के लिये किसी वस्तु से चिपकने की चेष्टा की हो (योग करने वाले अथवा योग के संपर्क में आये हुए किसी व्यक्ति को) और जिसने धोखा न खाया हो – वह टूट जाती है, रुक जाती है, मनुष्य अपन अवलंब खो देता है। तब मनुष्य कहताहै, ''जीवन कठिन है'' – वह कठिन नहीं है परंतु मनुष्य को यह जानना चाहिये कि वह क्या कर रहा है। भगवान् को छोड़कर अन्यत्र कहीं कोई अवलंब मत खोजो। भगवान् को छोड़कर अन्यत्र कहीं संतुष्टि की खोज मत करो। भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की खोज मत करो – कभी, एकदम किसी भी वस्तु के लिये। तुम्हारी सभी आवश्यकताएं केवल भगवान् के द्वारा ही पूरी हो सकती हैं। तुम्हारी सभी दुर्बलताओं को केवल भगवान् ही वहन कर सकते और दूर कर सकते हैं। एकमात्र वही तुम्हें वह चीज देने में समर्थ हैं जिसे तुम प्रत्येक बात में, सर्वदा, आवश्यक समझते हो, और यदि तुम कोई संतुष्टि या सहारा या साहाय्य या सुख या ... भगवान् जानें और क्या-क्या, अन्य किसी से पाने की चेष्टा करो तो तुम सदा-सर्वदा अपने मुंह के बल गिर पड़ोगे, और उससे तुम्हें बराबर चोट पहुंचेगी, कभी-कभी बहुत अधिक चोट पहुंचेगी।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
१९५०-१९५१ पृ.सं. ४०२

मधुर मां, क्या वैश्व प्राणिक शक्तियों की सीमाएं होती हैं?

मैं नहीं सोचती की शक्तियों की सीमा होती है, क्योंकि तुम्हारे अनुपात में वे निश्चय ही असीम हैं। लेकिन तुम्हारी ग्रहणशीलता की शक्ति सीमित होती हैं। तुम अमुक मात्रा से अधिक आत्मसात् नहीं कर सकते, और फिर हमें खर्च और ग्रहण करने की क्षमता में एक संतुलन रखना चाहिये। अगर तुम यकायक किसी आवेश में आकर खर्च करो – उदाहरण के लिये, किसी आवेशपूर्ण क्रिया में – तुम्हें जितनी शक्ति मिली है उससे कहीं अधिक खर्च कर डालो, तो तुम्हें वैश्व शक्तियों को आत्मसात् करने के लिये क्षण-भर की एकाग्रता, शांति, ग्रहणशीलता की आवश्यकता होती है। उन्हें प्राप्त करने के लिये तुम्हें अपने-आपको एक विशेष अवस्था में रखना होता है; तब वे कुछ समय तक बनी रहती हैं, एक बार खर्च कर देने पर तुम्हें उन्हें फिर से प्राप्त करना होगा। सीमाएं इसी अर्थ में होती हैं। शक्तियां सीमित नहीं होतीं, ग्रहणशीलता सीमित होती है।

हर व्यक्ति की ग्रहणशीलता भिन्न होती है। कोई भी दो ग्रहणशीलताएं गुण और परिमाण में, विशेषकर गुण में, समान नहीं होतीं। तुम्हारा बहुत तीव्र शक्तियों के साथ संपर्क जुड़ जाता है – ऐसी शक्तियों के साथ जिन्हें तुम परिवर्तित शक्तियां कह सकते हो, अर्थात्, ऐसी वैश्व शक्तियां

जिनका भगवान् के साथ सम्बन्ध है और वे न केवल भगवान् को प्राप्त करती हैं, बल्कि उन्हें पाने के लिये अभीप्सा करती हैं। तो अगर तुम इन शक्तियों को आत्मसात् कर लो, तो ये तुम्हें प्रगति के लिये महान् बल देती हैं। इसमें गुण बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। रही बात वैश्व प्राणिक शक्तियों के गुण की, यह स्वभावत: बहुत कुछ इसपर निर्भर है कि तुम क्या हो, और साथ-ही-साथ इस पर कि तुम क्या करते हो।

अगर तुम इन शक्तियों का उपयोग शुद्ध रूप से किसी निम्न प्रकार की स्वार्थपूर्ण क्रिया के लिये करो, तो तुम अपने लिये फिर से उसी गुण की नयी शक्तियों को पाना बिलकुल असंभव कर देते हो। सब कुछ इसपर निर्भर है कि जिन शक्तियों को तुम प्राप्त करते हो उनका किस तरह उपयोग करते हो। इसके विपरीत, अगर तुम उनका उपयोग प्रगति करने के लिये, स्वयं को पूर्ण बनाने के लिये करो, तो यह तुम्हें ग्रहणशीलता प्रदान करती है . . . तुम्हारी ग्रहणशक्ति को बहुत अधिक बढ़ा देती है, और अगली बार तुम पहले से बहुत अधिक प्राप्त कर सकते हो। सब कुछ (हर हालत में, मुख्यत:) उनके उपयोग पर निर्भर है। उदाहरण के लिये, ऐसे लोग हैं जो स्वभाव से चिड़चिड़े हैं और जो अपने क्रोध को वश में करने में सफल नहीं हुए हैं। हां तो, अगर अभीप्सा प्राप्त कर ली है तो, चूंकि उनके अन्दर आत्म-संयम नहीं है, यह प्राप्ति चिड़चिड़ेपन या गुस्से को शांत करने की जगह, उनका क्रोध और बढ़ा देती है, अर्थात्, उनकी खीझ, उग्रता की क्रिया अधिक शक्ति, अधिक ऊर्जा से भर जाती है और बहुत अधिक उग्र हो उठती है। तो यह ठीक ही कहा गया है कि वैश्व शक्तियों के साथ संपर्क कोई प्रगति नहीं करवाता। लेकिन स्वभावत: कुछ समय के बाद गलत उपयोग ग्रहणशीलता को कम कर देता है; लेकिन इसमें समय लगता है, यह तुरंत नहीं हो जाता। अत: यह बहुत जरूरी है कि तुम निम्न शक्तियों को नहीं, उच्च शक्तियों को ग्रहण करने के लिये अपने आपको उचित अवस्था में रखो, और फिर दूसरी बात यह कि जब उन्हें पा लो तो उनका उपयोग यथासंभव अच्छी-से-अच्छी चीज के लिये करो, ताकि तुम अपने-आपको अधिक ऊंची शक्तियों को ग्रहण करने के लिये तैयार कर सको। लेकिन अगर तुम अपने-आपको खोल कर शक्तियों को प्राप्त कर लो, और फिर उस प्राप्ति से संतुष्ट होकर स्वयं को हर साधारण क्रिया में जा गिरने दो, तो तुम दरवाजा बन्द कर देते हो और शक्ति फिर वापिस नहीं आती।

श्रीमातृवाणी प्रश्न और उत्तर
१९५५ पृ.सं. १३५

हम ग्रहणशीलता को बढ़ा भी सकते हैं? . . .

ग्रहणशीलता किस तरह बढ़ाया जाय? प्रगति करके।

पहले तुम्हें यह जानना चाहिये कि अपने-आपको कैसे खोला जाय। एक महान् शांति में उन प्राप्त की गयी शक्तियों को आत्मसात् करना जानना चाहिये।

तो प्रगति सामान्य किंतु क्रमश: बढ़ते हुए संतुलन में है, आत्मसात् करने की अवधियां – ग्रहण और आत्मसात् करने की – और उन्हें खर्च करने की अवधियां, इन दोनों में तुम्हें संतुलन

रखना आना चाहिये, और उन्हें बारी-बारी से ऐसी लय में बदलना भी आना चाहिये जो तुम्हारी निजी हो। तुम्हें अपने सामर्थ्य की सीमा को न लांघना चाहिये, न ही सामर्थ्य से कम करना चाहिये, क्योंकि वैश्व प्राणिक शक्तियां ऐसी चीज नहीं हैं जिन्हें तुम तिजोरी में बंद करके रख सको। उनका संचार होना चाहिये। अत: ग्रहण करना आना चाहिये और साथ-ही-साथ व्यय करना भी, लेकिन तुम्हें ग्रहणशीलता की क्षमता को इस तरह बढ़ाना चाहिये कि जो चीजें खतम करने या खर्च करने के लिये हैं उन्हें अधिक-से-अधिक प्राप्त किया जाय। तो ऐसा होता है, जैसा कि मैं कह रही थी, बच्चों में यह स्वाभाविक रूप से होता है। वे कुछ शुरू करते हैं, कुछ प्रयास करते हैं, सहज रूप से कुछ शक्ति ग्रहण करते हैं, उसे आत्मसात् कर लेते हैं, फिर कुछ दिनों के बाद, दो दिन, दस दिन, बीस दिन तक वे अधिक खर्च कर सकते हैं। एक साल के बाद वे बहुत अधिक कार्य कर सकते हैं, क्योंकि वे बारी-बारी से स्वाभाविक रूप में ग्रहण और व्यय करते हैं, और वे अपने आकार में बढ़ते जाते हैं।

निस्संदेह वे यह अचेतन रूप से करते हैं, लेकिन अधिक बड़े होकर यह करना अधिक कठिन हो जाता है, उदाहरण के लिये तुम बढ़ना बंद कर देते हो। तब इसका अर्थ होता है कि बढ़ने की एक अवधि होती है जो अब खतम हो गयी है। लेकिन उसे ज्यादा लंबा किया जा सकता है। एक आंतरिक अनुशासन द्वारा इसे बढ़ाया जा सकता है, एक ऐसे तरीके से जिसे तुम खोज निकालते हो, जो तुम्हारा अपना तरीका होना चाहिये।

श्रीमातृवाणी, प्रश्न और उत्तर
१९५५ पृं.सं. १३६

किंतु जो प्रयास आनंद देता है, वह परिस्थितियों द्वारा लादा गया होता है या प्रगति की ओर ले जानेवाला?

तुम दो चीजों को मिला रहे हो। एक तो है भौतिक और दूसरी है मनोवैज्ञानिक। यह बिलकुल स्पष्ट है कि जो काम इसलिये किया जाता है कि तुमने उसे करने का निश्चय कर लिया है और जो काम परिस्थितियों द्वारा थोपा गया है – वे परिस्थितियां चाहे कम या अधिक अनुकूल ही क्यों न हों – उन दोनों का परिणाम बिलकुल एक जैसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, सभी जानते हैं कि यौगिक अभ्यास करने वाले लोग प्राय: उपवास किया करते हैं। बहुत-सी यौगिक साधनाओं में तो बड़े लंबे-लंबे उपवासों का विधान है और जो लोग ये उपवास करते हैं वे साधारणतया इन्हें करके बहुत प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे अपनी इच्छा से करते हैं। किंतु उसी व्यक्ति को लो और उसे ऐसी परिस्थिति में रख दो जहां भोजन का अभाव हो, चाहे इस कारण कि भोजन मिल ही न सकता हो या इस कारण कि उसके पास पैसे न हों, तुम उस व्यक्ति को एक दयनीय अवस्था में पाओगे, वह विलाप करता हुआ मिलेगा कि जीवन बड़ा भ्यानक है, यद्यपि दोनों अवस्थाएं एक जैसी ही हैं; बस, एक अवस्था में तो उसने भोजन न करने का स्वयं निश्चय किया था और दूसरी में उसने इसलिये भोजन नहीं किया कि वह अन्यथा कर ही नहीं सकता था। यह जानी हुई बात है, किंतु यही एकमात्र कारण नहीं है।

जिस किसी क्षेत्र का प्रयास हो, भौतिक, नैतिक या बौद्धिक प्रयास, केवल प्रयास ही वह चीज है जो हमारे अंदर उन स्पंदनों को पैदा करती है जिनसे तुम विश्वव्यापी स्पंदनों के संपर्क में आने में सक्षम होते हो और यही वह चीज है जो तुम्हें आनंद प्रदान करती है। प्रयास ही तुम्हें तमस् से बाहर खींच लाता है, प्रयास ही तुम्हें विश्वशक्तियों के प्रति ग्रहणशील बनाता है। और सबसे बढ़कर, जो चीज तुम्हें सहजभाव से आनंद देती है वह है विश्वशक्तियों के साथ अपनी शक्तियों का आदान-प्रदान। यहां तक कि जो लोग योग नहीं करते, जिन लोगों में कोई आध्यात्मिक अभीप्सा नहीं है, जिनका जीवन बिलकुल सामान्य है, उन्हें भी यह चीज आनंद देती है। बस, लोग इसे जानते नहीं, वे यह नहीं कह सकते कि उन्हें इसी कारण आनंद होता है, पर बात यही है।

कुछ ऐसे लोग हैं जो ठीक सुन्दर पशुओं जैसे होते हैं। उनकी सभी गतियां सामंजस्यपूर्ण होती हैं, उनकी शक्तियां सुसंगत रूप में खर्च हैं, उनका सहज-स्वभाविक प्रयत्न सदा ही शक्तियां खींच लाता है और वे सदैव प्रसन्न रहते हैं। किंतु कभी उनका मस्तिष्क विचार-शून्य होता है, कभी हृदय भावनाशून्य होता है, वे बिलकुल पशुवत् जीवन बिताते हैं। मैंने ऐसे सुन्दर पशु-जैसे लोगों को देखा है। वे खूबसूरत थे, उनकी गतियां सुसमंजस थीं, उनके अंदर की शक्तियां संतुलित थीं, वे उन्हें बेहिसाब खर्च करते थे और बेहिसाब ही ग्रहण करते थे। उनकी प्रसन्नता इतनी स्वत:-स्फूर्त थी कि वह एकदम स्वाभाविक बन गयी थी। फिर उनके लिये इसका कारण बताना तो और भी कठिन होता, क्योंकि उनमें अभी तक बुद्धि का भली-भांति विकास नहीं हुआ था। मैं ऐसे लोगों को भी जानती थी जो आवश्यक प्रयत्न भी कर सकते थे, – अवश्य ही कोई सुविवेचित युक्ति संगत प्रयत्न तो नहीं, बल्कि सहज-स्वाभाविक प्रयत्न, – और वह भी भौतिक, प्राणिक, बौद्धिक आदि किसी भी क्षेत्र में, और इनके इस प्रयत्न में सदा ही आनंद रहता था। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति को लो जो पुस्तक लिखने बैठता है, वह प्रयत्न करता है और उसके मस्तिष्क में कोई चीज स्पंदित हो उठती है जिससे कि वह विचारों को आकर्षित कर सके। बस, वह तत्काल आनंद का अनुभव करने लगता है। यह बिलकुल निश्चित है कि तुम चाहे जो कुछ करो, चाहे वह कार्य एकदम स्थूल ही क्यों न हो, जैसे कमरा बुहारना, या रसोई बनाना, तुम यदि उसे करने के लिये अपनी पूर्ण शक्तिभर आवश्यक प्रयत्न करो तो तुम्हें आनंद मिलेगा भले ही वह कार्य तुम्हारी प्रकृति के विपरीत ही क्यों न हो। जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो तो तुम बहुत स्वाभाविक ढंग से आवश्यक प्रयत्न करते हो; उससे तुम्हारी शक्तियां प्राप्त वस्तु पर एकाग्र हो जाती हैं। वह तुम्हें अपने-आपको सुसंगठित करने के लिये, अपनी शक्तियों को एक-न-एक प्रकार से केंद्रित करने के लिये बाध्य करता है, क्योंकि तुम बस उसी एक चीज को करना चाहते हो न कि ऐसी अन्य पचासों चीजों को जो कि उसका खंडन करती हों। और इच्छा-शक्ति की इस तीव्रता में, इस एकाग्रता में ही आनंद का मूल निहित होता है। यह तुम्हें अपनी खर्च होनेवाली शक्तियों के बदले में नयी शक्तियां ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करता है।

श्रीमातृवाणी, प्रश्न और उत्तर
१९५०-५१ पृ.सं. ३१

शरीर का रूपान्तर

मैं एक कोषाणु को लेती हूं (मां अपनी अंगुलियों से मुद्रा करके दिखाती हैं), एक बहुत सूक्ष्म कोषाणु, इस तरह का, अण्वीक्ष्य, जिसे निरी आंखों से नहीं देखा जा सकता, लेकिन मुझमें वह क्षमता और वह दृष्टि है। इस तरह, मैं छोटे-से कोषाणु को लेती हूं, और उसे 'भगवत चेतना' के रूपान्तरकारी प्रकाश की ओर खोलती हूं। तब मैं इसे 'भगवान्' के अक्षय 'आनन्द्' से, उनकी अकंप 'शांति' से पूरित करती हूं और 'भागवत सत्तत्त्व' की 'दीप्तिमयी शक्ति' से सज्जित करती हूं। इस तरह यह 'भगवान्' के सब रूपों से भरा-पूरा हो जाता है: 'प्रकाश' उनके 'ज्ञान' से, 'आनन्द' 'भागवत प्रेम' से, 'शान्ति' 'पूर्ण शुभ्रता' से और 'शक्ति' उस सहनशक्ति से जो अनन्तकाल तक सहे जा सकती है जब तक कि वह 'परम संकल्प' में विलीन न हो जाये। ऐसे करती हूं मैं काम। मैं प्रत्येक कोषाणु को इस 'भागवत चेतना' से पूरित करती हूं और फिर दूसरा लेती हूं, फिर दूसरा और फिर दूसरा। इसी तरीके से सबको पूरित करती जाती हूं।

इन कोषाणुओं से एक भास्वर चेतना स्पंदित होती है, फूटी पड़ती है। जो तैयार हो जाते हैं उन्हें इकट्ठा करके मैं अलग रख देती हूं और जिन्हें मैंने अभी छुआ नहीं है उनमें और इनमें अन्तर को जांचती हूं। कितने अलग होते हैं ये, तुलना करने पर कितने अवास्तविक, दूसरे इस स्थिति को अनुभव करने लगते हैं और शरीर मुस्कुराता है और सचेतन हो जाता है। कोषाणु 'ऐक्य' का अनुभव करने लगते हैं और सबसे अधिक हैरानी तो तब होती है जब रूपान्तरित और अरूपान्तरित कोषाणुओं में अन्तर देखती हूं। तुलना करना असम्भव है। पुराने कोषाणुओं में, अर्थात् जो अभी भी भूत से चिपके हैं, केवल एक क्षीण-सी आभा होती है, 'भगवान्' की चिंगारी मात्र, जब कि 'अतिमानसिक चेतना' से सज्जित कोषाणुओं में आत्मा के 'आनन्द' का बोध होता है, 'जड़द्रव्य' की आत्मा का जो हजारों वर्षों की निश्चेतन तन्द्रा के बाद अंगड़ाई ले रही है। 'जड़' में इसका आविर्भाव इतना जीवन्त, इतना वास्तविक और इतना स्पष्ट है कि यदि इस 'आनन्द' को लव मात्र भी किसी को चखने दिया जाये तो वह इस असाधारण परीक्षण का अनुसरण करने के लिए सारी दुनिया को भूल जायेगा। सचमुच, रूपान्तर की इस खोज के सामने कितना असंगत लगता है सब कुछ, कितना नीरस, निरर्थक, और मूल्यहीन!

ग्रहणशीलता की इस स्थिति में शरीर अपने को पूरी तरह समर्पित करते हुए दोहराता है : ''केवल वही जो तुम चाहो प्रभु, जो तुम चाहो,'' निरन्तर यही है इसकी प्रार्थना। 'उसकी इच्छा' ही सब कुछ करती है, काम करती है, रूपान्तर करती और पथ-संकेत देती है, शरीर तो बस अपने को सौंप देता है। यह कितना सहज-स्वाभाविक, अपने में पूर्ण और अद्भुत ढंग से समरूप होता है-एक निर्दोष पारप्रेषी यन्त्र की तरह। 'उसकी' आज्ञा के बिना कुछ नहीं घटता। शरीर एक अज्ञात 'हर्षोल्लास' में थिरकता है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं रहा जो विरोध करे, विकृत करे, मिथ्या बनाये। सब कुछ विशुद्ध है, विशुद्ध और विमल, विशुद्धता जो बेदाग है, विमलता जो पारदर्शी-सम भासती है। जब मैं अपनी भुजा की ओर, शरीर की ओर देखती हूं तो वह पारभासी लगता है। इतना हल्का होता है शरीर कि मैं जहां भी जाना चाहूं, जा सकती हूं। इस अवस्था में सारा दिन कठोर श्रम करने के बाद भी शरीर थकता नहीं; और यह क्रम रात को भी थमता नहीं जब मैं कोषाणुओं के

रूपान्तर का काम जारी रखती हूं। मैंने धरती पर अब तक जितने भी काम किये हैं उन सबकी अपेक्षा इसकाम में कहीं अधिक धीरज, अचूक यथार्थता और एकाग्रता चाहिये। दोनों में कोई तुलना ही नहीं है। शरीर अपने पर एक नजर डालता है और हर्षोल्लास के कम्पन महसूस करता है - जो कुछ घट रहा है उससे कितना खुश है यह। इसे उसका अहसास है जो सर्व-समर्थ है, शाश्वत और अनन्त है। ह्रास और मृत्यु का इसके लिये कोई अर्थ नहीं रह गया क्योंकि आनन्द के इस लोक में उनका अस्तित्व ही नही है। शरीर एक तरह की अमरता के प्रति सजग है; यह महसूस करता है कि सभी विद्यमान वस्तुएं 'उसके संकल्प' द्वारा चालित होती हैं, 'भागवत चेतना' के लिए सब कुछ अनन्त और शाश्वत है, पूर्ण प्रशान्ति है। अकल्पनीय श्री सुषमा! लेकिन अन्यथा हो ही कैसे सकता था? हमेशा यह शरीर अर्थात् यह जड़द्रव्य जो ज्योतिर्मय लगता है, केवल यही दोहराता है : ''जो तुम चाहो प्रभु, जो तुम चाहो।'' या कभी-कभी प्रत्युत्तर में, यह अपने आपको कृतज्ञ भाव से पूर्णतया सौंप देता है, बस आश्चर्यचकित रह जाता है और दोहराता है : ''मुझे अपने कार्य के योग्य बना लो, मुझे अपने योग्य बना लो।'' यह सब और इससे भी अधिक और बहुत कुछ जिसका में वर्णन नहीं कर सकती।

परम् पृ. ४

और मां, जो श्रीअरविन्द ने किया है क्या वह यही है?

मूलत: हां। श्रीअरविन्द ने सारा आधार तैयार कर दिया है जिससे मेरा काम आसान हो जाये। 'निश्चेतना' के इस प्रदेश को खोलने की कुंजी श्रीअरविन्द के पास है। वे पट खोलने के लिए चाबी घुमाते हैं और मेरा मार्ग प्रकाशित करते हैं और इस जड़ और तमसाच्छन्न जड़द्रव्य के स्थूल शरीर में 'शक्ति', 'ज्योति' और 'भागवत आनन्द' भरने के लिए मैं बहुत धीमे कदमों से प्रवेश करती हूं। इस रूपान्तरकारी ज्योति का स्पर्श पाते ही इस जड़-भौतिक का गठन करनेवाले अणु इस 'नयी चेतना' के प्रति सजग हो उठते हैं। इस तरह से चलता है यह काम, फैलता या बहुगुणित होताहै। समझे तुम, श्रीअरविन्द 'जड़द्रव्य' की 'आत्मा' हैं, सारी मानवजाति की अभीप्सा हैं। वे 'जड़द्रव्य' में निहित 'प्रकाश' हैं या 'जड़द्रव्य' में अवतरित हुई 'आत्मा' हैं। श्रीअरविन्द ने उस 'परम' से अपने को अलग किया, निश्चेतना और अज्ञान का बोझा अपने पर लादकर सशरीर इस जड़द्रव्य में डुबकी लगायी ताकि उसे भागवत जीवन के प्रति जगा सकें। इसके लिए 'उन्होंने' 'परम प्रभु' का, 'कृपा' का आह्वान किया कि वे नीचे उतरें और 'उनके' काम में मदद करें। इसीलिए 'उनका' आह्वान सुनकर मैं मानव तनु में नीचे जड़द्रव्य में उतरी, इस कष्ट, पीड़ा और मृत्यु के लोक में आयी। और हम दोनों के सम्मिलन से ही दुनिया धीरे-धीरे देखेगी भागवत जीवन के इस चमत्कार को। 'उन्हीं' के कारण मैं अवतरित हुई हूं। उन्होंने नीचे से जड़द्रव्य की उत्कट अभीप्सा को ऊपर भेजा और प्रत्युत्तर में भागवत कृपा ऊपर से अवतरित हुई। कैसी मंगल वेला थी वह धरती के लिए! अत्यधिक प्रगति करने का अवसर है यह जिसमें सारा विश्व अपनी सत्ता के लक्ष्य की ओर बड़े उत्साह और स्फूर्ति से बढ़ सके। हमारी सहायता के द्वारा, जो सदा ही उसे उपलब्ध होगी, और डटे रहने के संकल्प के साथ ऐसा क्या है जिसे वह संसिद्ध न कर सके! वह घड़ी आन पहुंची है।

तुम्हें पता है, हर वह प्रकम्पन जो हमसे निकलता है, ज्योति की हर रश्मि जो हमसे विकीर्ण होती है वह आकाश-दीप बन जाती है जिसका प्रकाश निश्चेतन के अन्तर में फैल जाता है और इसकी सत्ता के सत्य की ओर जानेवाले पथ को आलोकित कर देता है। श्रीअरविन्द के कारण ही मैं इस काम को कर सकी हूं। काम का अधिकांश तो वे ही करते हैं। वे मुझे बुलाते हैं, द्वार खोलते हैं और मैं इन निश्चेतन की गहराइयों में उतर जाती हूं और उसकी अलस तन्द्रा में पड़े अणुओं को आलोकित करने के लिए जोत जलाती हूं। उन्हें जगाने के लिए मैं थोड़ी-सी शक्ति का दबाव देती हूं और यह 'भागवत प्रेम' उन्हें प्रदान करती हूं ताकि वे और अधिक अभीप्सु हों। प्रत्येक अणु को मैं इस तरह तैयार करती हूं।

जहां-जहां हमने अपने कदम रखे और अपनी पदछाप पीछे छोड़ी वहां-वहां वे अणु विकीरित होते हैं और अपने आसपास के दूसरे अणुओं पर भी प्रभाव डालते हैं और इस तरह परिवर्तन का यह सिलसिला बिना कमे, बिना थमे, चलता रहता है।

तुम ठीक कहते हो। मेरे पैरों से कहीं अधिक मात्रा में शक्ति निकलती है क्योंकि इसे इस धरती के कठोर आवरण को भेदना होता है, निश्चेतन तक पहुंचने और छूने के लिए उसे कड़े विरोध में से गुजरना होता है। यही कारण है कि शक्ति सीधी गुजरती है। लेकिन जब मैं अपने हाथों से आशीर्वाद देती हूं तो मैं इस शक्ति के प्रवाह को रोक लेती हूं और आशीर्वाद देते समय हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुरूप देती हूं। लेकिन श्रीअरविन्द का तरीका कुछ और ही था; इस तरह दूर से वे शक्ति को सीधा संचारित कर सकते थे, बिना छुए, चाहे किसी को स्वस्थ करना हो, उसे ऊपर उठाना हो या आशीर्वाद देना हो--मैंने कितने ही उदाहरण स्वयं देखे हैं। जब किमैं अपने पर थोड़ी रोक लगाती हूं, व्यक्ति की ग्रहणशीलता के अनुसार, जितना उसमें समा सके या वह आत्मसात् कर सके उसके अनुपात में देती हूं। मैं व्यक्ति को उसकी सामर्थ्य के अनुसार देती हूं, न कम, न ज्यादा और वे सन्तुष्ट हैं इससे। पर कभी-कभी मुझे कफी अधिक तीव्रता और ऊर्जा के साथ देना पड़ता है जब कोई बहुत दूर से, दुनिया के दूसरे छोर से मदद के लिए पुकारता है। जब मैं कोई प्रार्थना सुनती हूं तो मैं शक्ति और संकल्प भेजती हूं जो बहुत तीव्रता से जाते हैं, चाहे वे, जो आवश्यक हो वह करें या व्यक्ति को बचायें। यह एक स्पन्दन है जो मुझमें से निकलता है और एक सैकेंड में ही वह निर्णायक के रूप में क्रिया करता है चाहे व्यक्ति दुनिया के दूसरे कोने में ही क्यों न हो। उस पल यह स्वयंचालित और सीधा होता है और इस स्पंदन में जो संकल्प मैं भरकर भेजती हूं यह उसे सम्पन्न करता है। असली बात कहूं तो यह बहुत सबल शक्ति होती है जिसे मैं भेजती हूं और जो उस व्यक्ति पर काम करती है- यह उसे मृत्यु तक से बचा सकती है। लेकिन इतनी उत्कट शक्ति मैं अक्सर नहीं भेजती। मैंने जो कुछ किया है, जो कुछ किया जा चुका है लोग उसका मूल्य नहीं आंक सकते। जो हो .....

(कुछ देर बाद) मालूम है तुम्हें कि मैं यहां, ऊपर हूं, इस तरह (मुद्रा) तुम्हारे सिर के ऊपर, लगातार यहीं ताकि जब तुम यह ऊपरी द्वार खोलो (मुद्रा) तो अपने को तुम्हारे साथ तदात्म कर लेने के लिए तुम्हारे अन्दर पूरी तरह प्रवेश कर जाऊं। तब मैं तुम्हारे अन्दर सब कुछ कर दूंगी, सब कुछ। उसके लिए, तुम्हें विमल और सच्चे होना होगा और तुम्हारे चैत्य पुरुष को तुम्हारा जीवन

चालित करने के लिए आगे आना होगा। तुम्हारे सारे कार्य तुम्हारी गभीरतर सत्ता को, तुम्हारे आन्तरिक जीवन को प्रतिभासित करें। तब ऊपर से मेरी ज्योति तुम्हारे अन्दर पैठ सकेगी, तुम्हारे चैत्य पुरुष के साथ सम्बन्ध जोड़ सकेगी और तुम्हारी चेतना में आमूल परिवर्तन ला सकेगी। केवल इसी तरह तुम मुझे बुला सकते हो और मैं तुम्हारी चेतना के साथ पूर्ण सायुज्य में जुड़ जाने के लिए आसानी से तुम्हारी अन्दर प्रवेश कर सकूंगी। तब काम तुम नहीं करोगे, मैं करूंगी सब कुछ तुम्हारे लिए। इसी के लिए, इसी आशाओं से भरे दिन के लिए मैं बड़े धैर्य के साथ प्रतीक्षा कर रही हूं जब तुम्हारे अन्दर का अहं अपने को अपनी 'आत्मा' के प्रति खोल देगा जो हमेशा ही तुम्हारे ऊपर विद्यमान रहती है, ताकि यह तुम्हारे भीतर उतर कर तुम्हारे जीवन को शासित करे। असल में तो, मैं हर एक के अन्दर भी हूं और ऊपर भी। इसी तरह मैं हर एक को चलाती हूं। लेकिन मुझे वहां ऊपर भी पाने के लिए तुम्हें मेरे साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा.....।

मेरे रखे हर कदम ने 'जड़-पदार्थ' को जगाया है और वहां प्रतिध्वनि की तरह गूंजता रहता है। 'जड़' में जो चेतना जगाये वह हर कदम अनमोल है। मैं अणु-अणु में व्याप्त हूं और हर कदम पर धरती के साथ मेरा संस्पर्श इसकी उपरी कठोर परत को बलपूर्वक तोड़ देता है और इसकी आंखे प्रकाश की ओर खोल देता है।

(कुछ देर के बाद मां आगे कहती हैं):

साहसी बनो और एक संकल्प के साथ शुरू करो, कुछ भी तुम्हें अटका नहीं सकेगा। मैं हूं तुम्हारी मदद के लिए।

आगे बढ़ो मेरे वत्स, मौके को मत चूको। यह जीवन में बस एक बार आता है और जीवन कोई लम्बा नहीं है। लेकिन चेष्टा पथ को छोटा कर सकती है। और फिर मैं तो खड़ी हूं पथ-प्रदर्शक की तरह, तुम्हारी बगल में, इससे पथ काफी छोटा हो जायेगा और पहुंच आसान।

बढ़ते चलो उन लोकों की ओर, वहां जहां तुम खड़ा पाओगे मुझे जरा-रहित देह में, कान्तिमय रूप में।

तो, शुभमस्तु!

फिर मिलेंगे।

परम पृ. संख्या ६६

THE GOLDEN LIGHT

Thy golden Light came down into my brain
And the grey rooms of mind sun-touched became
A bright reply to Wisdom's occult plane,
A calm illumination and a flame.

Thy golden Light came down into my throat,
And all my speech is now a tune divine,
A paean song of Thee my single note;
My words are drunk with the Immortal's wine.

Thy golden Light came down into my heart
Smiting my life with Thy eternity;
Now has it grown a temple where Thou art
And all its passions point towards only Thee.

Thy golden Light came down into my feet;
My earth is now Thy playfield and Thy seat.